# सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- १२ मार्च १९९५

संस्थापक :
योग योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्धगुफा प्रकाशन, सैंयाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

मार्च
1994

# इस अंक में पढ़िए

| लेख | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|
| ● श्रेयः स नित्य संन्यासी (प्रार्थना) | | 1 |
| ● योगी श्री कृष्णानन्द जी | —योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज | 2 |
| ● अभ्युदय में बाधक ऐषणायें। (सम्पादकीय) | | 6 |
| ● रमता जोगी बहता पानी | —रमताराम की डायरी से | 9 |
| ● जीवन एक स्वप्न है। | —श्री विष्णुप्रसाद व्यास | 11 |
| ● सद्गुरु कौन ? | —श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल | 13 |
| ● शारदा-स्तवन | —श्री समर्थ रामदास | 23 |
| ● प्रार्थना, उपासना तथा पूजा | —श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती | 25 |
| ● देह और देही | —परमहंस स्वामी योगानन्द | 29 |
| ● सत्यं-शिवं-सुन्दरम् (संकलित) | | 31 |

## आवश्यक निवेदन

☐ 'सिद्धयोग' के सभी ग्राहक और गुरु भाई-बहनों से निवेदन है कि 'सिद्धयोग' हेतु उनका 26वें वर्ष का वार्षिक मूल्य जो उन्होंने जमा कराया था मार्च, 94 का प्रस्तुत अंक पहुँचने पर समाप्त हो गया है। अतः नये 27वें वर्ष के लिए उनका अग्रिम मूल्य 55 रु० सिद्धयोग कार्यालय सवाई में मनीआर्डर द्वारा या अपने किसी विश्वसनीय व्यक्ति द्वारा जमा हो जाना आवश्यक है ताकि अगला प्रकाशन आपकी सेवा में समय पर भेजा जा सके। वार्षिक मूल्य का मनीआर्डर श्री राजनारायण शर्मा व्यवस्थापक 'सिद्धयोग' सवाई, आगरा के नाम से भेजें ताकि वह सिद्धयोग के ग्राहक खाते में जमा हो सके। —प्रकाशक

☐ सिद्धयोग के सभी लेखकों और रचनाकारों से भी निवेदन है कि वे नये वर्ष के अंक में प्रकाशनार्थ अपनी रचनाएँ हमें 10 मार्च तक भेज देने की कृपा करें। —सम्पादक

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रु०। आजीवन मूल्य 551 रु०।

श्री सद्गुरुदेव परब्रह्मणे नमः | श्री रामलाल प्रभवे नमः

# महाप्रभु श्री रामलालजी की पावन जयन्ती

के उपलक्ष में

## श्री सिद्धगुफा सवांई पर

## *उत्तर भारत का प्रख्यात*

# योग-महामेला

सभी गुरु भाई-बहनों को यह जानकर परम हर्ष होगा कि गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी श्री सिद्धगुफा सवांई पर उत्तर भारत का प्रख्यात योग-महामेला चैत्र शुक्ला सप्तमी, अष्टमी, नवमी, विक्रमी सम्वत् २०५१ तदनुसार सोमवार, मंगलवार, बुधवार, दिनांक १८, १९, २० अप्रैल, १९९४ को बड़ी धूमधाम से मनाया जायगा ।

इस योग-महामेले की सूचना आप अपने आस-पास के सभी गुरु भाई-बहनों को देने की भी कृपा करें । क्योंकि हमारे पास सभी गुरु भाई-बहनों के पते नहीं हैं जिससे कि हम उन्हें सूचित कर सकें । जैसा कि सभी गुरु भाई-बहन जानते हैं कि इस मेले का आयोजन

परमपूज्य श्रद्धेय गुरुदेव

## अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

के द्वारा हुआ था । अतः उनके कर कमलों द्वारा स्थापित और उद्घाटित इस मेले को अपनी उपस्थिति से सफल और आकर्षक बनाना हम सभी का परम कर्त्तव्य है ।

नोट—सभी आगन्तुक गुरु भाई-बहन मौसम के अनुसार अपने-अपने बिस्तर साथ में अवश्य लाएँ क्योंकि आश्रम की ओर से बिस्तर उपलब्ध करा पाना सम्भव न हो सकेगा ।

निवेदक :

**स्वागत समिति के सदस्य एवं अन्य सभी सहयोगी बन्धु**

योग-प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा सवांई (आगरा)

# सिद्ध योग

**योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र**

**श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा**

वर्ष २६
अङ्क १२

मार्च
१९९४


ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्भुवि विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

श्रीकृष्ण ने कहा :-

## ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

—गीता 5/3-4

अर्थात्

उस कर्मयोगी को सदा संन्यासी ही समझना चाहिए, जो न तो द्वेष करता है और न किसी वस्तु की आकांक्षा ही करता है। अर्थात् जो सुख, दुख और उनके साधनों में उक्त प्रकार से राग-द्वेष रहित हो गया है, वह कर्म में बर्तता हुआ भी सदा संन्यासी ही है ऐसे समझना चाहिए।

क्योंकि हे महाबाहो! राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक अनायास ही बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अर्थात्—बालबुद्धि वाले ही सांख्य और योग—इन दोनों को अलग-अलग विरुद्ध फलदायक बतलाते हैं पण्डित नहीं।

ज्ञानी—पण्डितजन तो दोनों का अविरुद्ध और एक ही फल मानते हैं।

क्योंकि सांख्य और योग इन—दोनों से एक का भी भली-भांति अनुष्ठान कर लेने वाला पुरुष दोनों का फल पा लेता है।

कारण दोनों का वही (एक) कल्याणरूप (परमपद) फल है, इसलिए फल में विरोध नहीं है।

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

योगी श्री कृष्णानन्द जी की योगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की साधना के उनके अपने अनुभूत संस्मरण भी। —सम्पादक

# योगी श्री कृष्णानन्द जी

हरिद्वार एवं ऋषिकेश जैसे पावन-स्थलों की यात्रा करने वाले प्रायः सभी तीर्थ-यात्री स्वर्गाश्रम गीता भवन एवं परमार्थ-निकेतन जैसे प्रेरणाप्रद स्थलों से परिचित हैं। ऐसे महानुभावों को कदाचित् ध्यान होगा कि परमार्थ-निकेतन एवं गीता-भवन के मध्य एक छोटा सा आश्रम स्थित है। उस आश्रम के संस्थापक एक सन्यासी महात्मा हैं, उन्हीं का चरित मैं यहाँ लिखने जा रहा हूँ। यह महात्मा ही योगी कृष्णानन्द जी हैं। अब तो वे संन्यासी हो गए हैं। इस आश्रम को ग्रहण करने से पूर्व इन्होंने योग-दीक्षा उन्हीं योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज से प्राप्त की है, जो मेरे भी सद्गुरु महाराज हैं। इस सम्बन्धानुसार यह मेरे गुरु-भाई होते हैं, अतः इनके विषय की कई अद्भुत घटनाओं का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है।

भाई कृष्णानन्द जी का पूर्व नाम श्री रतनलाल था। इनका जन्म पवित्र अग्रवाल घराने में, मुजफ्फरनगर नामक नगर में हुआ था। रतनलाल जी कुछ घरेलू झगड़ों से विरक्त होकर भ्रमणार्थ ऋषिकेश आए थे। इनके घर में कथा-कीर्तन सत्संग महात्माओं के सदुपदेश समय-समय पर हुआ करते थे। कुछ पूर्व-संस्कार इस प्रकार के थे कि इनके मन में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया और इन्हें घरेलू झंझटों को सदा के लिए त्याग देना ही उचित लगा। ऐसा निश्चय करके यह उत्तराखण्ड की यात्रा करने के लिए चले गये। संसार छोड़ कर चले थे, अतः जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग दिखाने वाले किसी परिपूर्ण योगाचार्य की आवश्यकता अनुभव करने लगे।

उत्तराखण्ड की यात्रा से विचरते-विचरते रतनलाल जी फिर ऋषिकेश आ पहुँचे। अब इनके मन में यह तीव्र लगन लग गई थी कि इनको किसी परिपूर्ण सद्गुरुदेव जी के दर्शन प्राप्त हों। इसी प्रकार के योगाचार्यों की खोज में इनका यत्र-तत्र भ्रमण चलता रहता था। बड़े-बड़े मण्डलेश्वरों एवं मठाधीशों के दर्शन भी इनके मन को वांछित शान्ति-लाभ न करा सके। उपदेष्टा तो सभी थे, किन्तु किसी ऐसे योगैश्वर्य सम्पन्न सद्गुरुदेव के दर्शन नहीं मिले, जो—"दिव्यं ददामि ते चक्षु:

पश्य मे योगमैश्वर्यम्''—को प्रतिज्ञापूर्वक कहता हुआ अनुभूति-मार्ग में प्रविष्ट करा सकता। घूमने पर भी जब इन्हें मनोनुकूल योगिराज के दर्शन प्राप्त नहीं हो सके, तो इन्हें स्वाभाविक ही निराशा होने लगी। अब उनका यह विचार बनने लगा था—ऋषिकेश में उनको कोई पथप्रदर्शक नहीं मिलेगा। अतः अब घर ही क्यों नहीं लौट चलें? व्यर्थ भगवा-वस्त्र पहिन साधु बन भिक्षाटन करने से क्या लाभ? इससे तो घर पर व्यापार आदि सांसारिक कार्य करते हुए ही जीवन व्यतीत कर लेंगे।

एक दिन इसी विचार में निमग्न, निराश हुए रतनलाल जी रेलवे स्टेशन की ओर जा रहे थे। अन्ततः घर लौट जाने का ही निश्चय कर लिया था। मार्ग में अचानक उनके नेत्रों ने एक स्थान पर लिखा देखा—श्री योग-साधन आश्रम। चलते-चलते पैर रुक गये, मानो हठात् किसी ने रोक लिया हो। उस जगदात्मा ने भी बिलकुल निराश करके ही शायद प्राणी को अभीष्ट-प्राप्ति कराया है। 'योग-साधन आश्रम' शब्द पढ़ते ही इनको लगा, मानो जो खोज रहे थे, वह मिल गया है। आश्रम के भीतर प्रवेश करके सब कुछ ज्ञात करने की तीव्र इच्छा इनके मन में जाग उठी। उन्हें पूर्ण विश्वास-सा हो रहा था कि अवश्य ही कोई परिपूर्ण योगिराज इस आश्रम में निवास करते हैं। ऐसा विचार करके भाई रतनलाल जी ने आश्रम में धीरे-धीरे प्रवेश किया। सामने ही आराम कुर्सी पर विराजमान श्री प्रभुजी के दर्शन कर इनको लगा—जिसकी खोज थी, वह मिल गए हैं। अन्य आश्रमों से भिन्न इस प्रकार के पवित्र वातावरण वाले आश्रम में प्रवेश करने का रतनलाल जी का यह प्रथम अवसर था। सायंकाल लगभग पाँच बजे का समय था, यह आश्रम का सत्संग का समय रहा करता था। इस कारण श्री प्रभुजी के आस-पास बैठे सत्संगी भाई-बहिन ध्यानादि की कुछ चर्चाएँ कर रहे थे। दूसरी ओर एक भाई श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में बैठकर दूर नगरों में रहने वाले सत्संगियों के आए पत्रों को पढ़कर सुना रहे थे। उन पत्रों में बड़े-बड़े ध्यानानुभव लिखे थे। यह सब देख सुनकर रतनलाल जी का हृदय श्री प्रभुजी के पावन चरण-कमलों की ओर और भी अधिक आकर्षित हुआ। उन्होंने अत्यन्त विनम्र-भाव से श्री प्रभुजी से प्रार्थना की—प्रभुजी, आप करुणासागर हैं। कृपा करके मुझे भी अपनी शरण में ले लीजिए।

भाई रतनलाल जी की होनहार अच्छी थी। इनकी इस विनम्र प्रार्थना पर श्री प्रभुजी मुस्करा पड़े और मुखारविन्द से स्वीकृत सूचक ''अच्छा'' शब्द निकल गया। दूसरे दिन साधारण पत्र-पुष्प स्वीकार कर अनन्त शक्ति सम्पन्न श्री प्रभुजी ने भाई रतनलाल को शक्तिपात-दीक्षा दी। जिसके फलस्वरूप उनमें बड़ी तीव्रगति से शक्ति संचरित हुई। श्री प्रभुजी ने उन्हें कुण्डलिनी योग का उपदेश देकर मूलाधार कमल में श्री गणपति जी का ध्यान करने का आदेश दिया। अब भाई रतनलाल जी श्री प्रभुजी के आदेश के अनुसार अपना ध्यानाभ्यास करने लग गए और उत्तरोत्तर प्रगति करने लगे। जैसे-जैसे ध्यानाभ्यास परिपक्व होता गया, वैसे-वैसे ही मूलाधार कमल के प्रत्यक्ष दर्शन उनको बने रहने लगे। कुछ ही समय में भाई रतनलाल जी का आश्चर्यजनक रूप से काया-कल्प ही हो गया। वह हर समय ध्यानस्थ रहने लगे। पान खाने और बीड़ी

पीने का इनका विशेष व्यसन भी ध्यान की उच्चतम स्थिति में स्वतः ही छूट गया। उन्हें क्षण-क्षण में मूलाधार कमल के दर्शन निरन्तर बने रहने लगे। सारांश यह कि संसार भूल गया, केवल ध्यान में दीखने वाले की स्मृति रहने लगी। भाई रतनलाल जी की ऐसी उच्च-स्थिति इतनी शीघ्र बन गई कि सारे ही आश्रमवासी आश्चर्य करने लगे। उनके मुखमंडल पर हर समय एक विशेष तेज विराजमान रहने लगा। ध्यान की उच्चतम स्थिति में उनको हिमालय के अनेक सिद्धों के दर्शन एवं कई प्रकार के वरदान प्राप्त हुए। यह बड़े ही आश्चर्य का विषय था कि दो मास पूर्व का एक साधारण गृहस्थ व्यक्ति, इतने अल्प समय में ही अत्यन्त उच्चकोटि का सन्त बन गया है। आश्रमवासी प्रायः देखा करते थे—ध्यानस्थ रतनलाल जी के शरीर पर से निस्संकोच बिच्छू व सर्प गुजर जाते हैं, परन्तु उनको किसी प्रकार की भी चेतना नहीं हो रही है।

## चक्कू की तलाश

लीलाप्रिय आनन्दकन्द श्री प्रभुजी यदा-कदा अपने बालकों का मान बढ़ाने के लिए खेल किया करते थे। खेल-खेल में ही सर्व-साधारण के समक्ष अपने बालकों की अद्भुत शक्तियों का प्रदर्शन कर दिया करते थे। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति जान लेता था कि इन बालकों के भीतर किसी महती शक्ति का प्रवेश है। एक बार श्री प्रभुजी ने एक ऐसा ही खिलवाड़ किया।

श्री प्रभुजी मध्यान्ह-काल में भोजन करके उठे थे। भाई रतनलाल जी ध्यान से उठकर दीवार के एक कोने को पकड़े, इस आशा में खड़े थे कि श्री प्रभुजी के आने पर चरणार-विन्दों में नमस्कार करूंगा। वह उसी द्वार के मार्ग में खड़े थे, जिससे प्रभुजी अन्दर आया करते थे। आज श्री प्रभुजी को खिलवाड़ सूझा—अतः नित्य वाले द्वार से न जाकर दूसरे ही द्वार से धीरे से अन्दर जाकर अपने सिंहासन पर बैठ गए। श्री प्रभुजी ने ऐसा इसलिए किया था जिससे रतनलाल उनको देख न पाएँ और यही समझते रहें कि अभी श्री प्रभुजी भोजन ही कर रहे होंगे। किन्तु ऐसा नहीं हो सका, जैसे ही श्री प्रभुजी सिंहासन पर विराजमान हुए त्यों ही अकस्मात् रतनलालजी दीवार से हटकर श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में पड़े दिखलाई दिए। वहाँ पर बैठे सभी सत्संगी भाइयों ने इस आश्चर्य को देखा कि किसी अव्यक्त शक्ति ने उनके मन को घुमाकर श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों की ओर आकर्षित कर दिया था। सभी आश्चर्य में पड़ गए और अत्यन्त विनयपूर्वक श्री प्रभुजी के चरण कमलों में जिज्ञासा प्रगट करने लगे—प्रभुजी, रतनलालजी को यह बोध किस प्रकार हुआ।

श्री प्रभुजी ने कहा—रतनलाल में यह सामर्थ्य है कि वह इस प्रकार की सब बातों को जान सके। श्री प्रभुजी के मुखारविन्द से यह वचन निकलने पर उन सभी के मन में यह लालसा उत्पन्न हुई कि वे कोई ऐसी विलक्षण घटना देखें जिससे इस कथन की पुष्टि होती हो।

अन्तर्यामी श्री प्रभुजी उन लोगों के मन के भाव समझ गए और एक ऐसा ही अव-सर उपस्थित हो गया। आश्रम का एक चाकू खो गया था। कई घण्टे से उसकी तलाश की जा रही थी, परन्तु मिल ही नहीं पा रहा था। सहसा उन सभी आश्रम-वासियों के मन में अभिलाषा हुई कि रतन-

लाल जी अपनी ध्यान-दृष्टि से उस चक्कू के स्थान की तलाश करें। उन सब के मानस-अभिप्राय को समझकर श्री प्रभुजी थोड़ा हँसे और भाई रतनलाल जी से कहने लगे—अरे रतन, जब इन सबकी यही इच्छा है, तो तू उस चाकू की तलाश कर ही दे। श्री प्रभुजी की आज्ञा पाते ही रतनलाल जी उठ पड़े। नेत्र बन्द किए हुए ही उस स्थान पर आ पहुँचे जहाँ वह चाकू पड़ा हुआ था। आँखें बन्द ही किए उन्होंने वह चाकू उठाकर सबको दिखा दिया। इस घटना से अचरज में पड़े उन सभी लोगों ने यह जान लिया कि भाई रतनलाल में कितनी बड़ी शक्ति है।

अस्तु, इस प्रकार की अन्यान्य घटनाएँ भी घटती रही हैं। अपने अन्दर इस प्रकार के दिव्य-विकास को देखकर भाई रतनलाल जी का अभ्यास और वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अपने ध्यानाभ्यास में उन्होंने कई प्रकार के दिव्य-मन्त्र, गुप्त-क्रियाएँ और दिव्य औषधियों को सिद्धों के द्वारा प्राप्त किया था। उनकी निर्विचारसमाधि की निर्मलता में उत्तरोत्तर ऋत का प्रकाश होता चला गया। उनके ध्यानानुभव उत्तरोत्तर सत्य होने लगे। साधना को प्रारम्भ में जो अनुभव होते हैं उनमें यत्किंचित् अपने मन का भी समावेश रहा करता है। अतः उस काल के अनुभव पूर्णतः सत्य नहीं हुआ करते। उत्तरोत्तर अभ्यास के पश्चात् ही अनुभवों में पूर्ण सत्यता आ पाती।

# मुण्डकोपनिषद् का तत्व ज्ञान

इस उपनिषद् में शौनका को उनके गुरु अंगिराज द्वारा दिये गये उपदेश सम्मिलित हैं :-

★ हमारे कान वही सुनें जो अच्छा हो, हमारी आँखें वहीं देखें जो अच्छा हो। हम जब तक जीवित रहें हमारी भुजायें और शरीर सुदृढ़ रहें, हम सदा सुखी रहें और परम पिता परमात्मा का गुणगान करते रहें। सभी देवताओं की हमारे ऊपर अनुकम्पा बनी रहे। हमारे हृदय में सदैव शान्ति का स्रोत प्रवाहित होता रहे।

× × ×

★ शिक्षाप्रद दो ही प्रकार का विज्ञान है जिसको विद्वानों ने उत्कृष्ट और अधोगत कहा है। वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, धर्म-कर्म सम्बन्धी साहित्य; व्याकरण, शब्द रचना विज्ञान, दार्शनिक प्रणाली, तारों की विद्या आदि की गणना उत्कृष्ट विज्ञान और अन्य शिक्षाप्रद पठनीय सामग्री को अधोगत बताया गया है।

ध्यान देने योग्य है कि उत्कृष्ट विज्ञान यथार्थवाद से परिपूर्ण है। हमारे वेद ही विश्व ज्ञान कोष हैं एकमात्र भजन-पुस्तक ही नहीं।

सम्पादकीय :—

# अभ्युदय में बाधक ऐषणायें !

**मा**नव-जीवन के अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति में सबसे अधिक बाधक साधक के मन में समायी हुई वे ऐषणायें या लालसायें ही रहा करती हैं, जो जन्म-जन्मान्तर से उसके ही रजोगुण का आश्रय लेकर पोषण पाती हुई चली आती हैं। हमारे दार्शनिकों ने मनुष्य के मन में समाई इन ऐषणाओं को तीन भागों में बाँटा है, जिन्हें हम पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकैषणा के नाम से जानते हैं। जीवन-दर्शन का जिन्होंने गहराई से अध्ययन-मनन किया है उनकी यह भी मान्यता है कि वे मनुष्य सौभाग्यशाली ही कहे जा सकते हैं जो इन ऐषणाओं के निरन्तर बहने वाले प्रवाह से बचकर अपने को सुरक्षित निकाल ले जाने की क्षमता पा लेते हैं। वरना अधिकांश के लिए तो हमें 'को छूट्यो यह जाल परि' उक्ति कहकर ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। संसार की इस दयनीय स्थिति पर जब हम अधिक गम्भीरता से विचार करने लगते हैं तब योगिराज भर्तृहरि की लेखनी से निःसृत यह शब्द-चित्र सहसा हमारे सामने आ खड़ा होता है :

**आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णा-तरंगाकुला**
**रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुम विध्वंसिनी ।**
**मोहावर्त सुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी**
**तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥**

अर्थात्—मनोरथों रूपी जल से भरी इस विकराल नदी को हर कोई तो नहीं किन्तु योग मार्ग के साधक योगीजन सहजता से पार कर जाया करते हैं। अनेक ऐसे योगीश्वरों और सिद्धेश्वरों के आदर्श जीवन हमें इस दिशा में इतिहास के पृष्ठों पर पढ़ने को मिल जाते हैं। अति अतीत में नहीं किन्तु निकटतम अतीत में स्वामी राम-कृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, प्रोफेसर रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द सरस्वती, गोस्वामी तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ टैगोर, योगिराज अरविन्द, आचार्य विनोबा, महात्मा गांधी, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक आदि ऐसे वन्दनीय महानुभाव हुए हैं जिन्हें जागतिक ऐषणाओं की लहरें अपने में समा नहीं सकीं—बल्कि तीनों ही ऐषणायें इनसे टकराकर भी, इन्हें अपने परमार्थ पथ पर चलने के ध्येय से डिगा नहीं पायीं।

ये सभी महा मानव उच्चकोटि के पुण्य-पुरुष थे, गुणातीत थे लोक कल्याण के लिए ही यह जगत में आये थे इसीलिए तीनों प्रकार की ऐषणाओं से विरत ही बने रहे। पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकैषणा सभी उनकी जीवनचर्या से दूर-दूर ही बनी रहीं। सभी सिद्धियाँ और ऐश्वर्य इन्हें सहज सुलभ थे किन्तु जगत के कल्याणकारी इनके संकल्प रूपी धनुष को ये 'सीय स्वयंवर के धनुष' के समान रंचमात्र भी डग-मगा नहीं सकीं, इन अथवा इस प्रकार के अन्य वन्दनीय युग-पुरुषों के संकल्प-धनुष को। 'भूप सहस दस एक हि बारा, लगे उठावन टरहि न टारा' जैसी स्थिति में ही वह बना रहा।

छोड़िए, अति निकटतम अतीत के इन सभी पूजनीय पुरुषों की गाथा। वर्तमान में भी हम ऐसे अनेक महा-मनीषियों से भली-भाँति परिचित हैं जिनका जीवन इन तीनों ऐषणाओं में से किसी से भी कभी प्रभावित नहीं रहा। पुत्रेषणा और वित्तेषणा के परित्याग से अधिक कठिन होता है लोकैषणा का परित्याग। जिसे हिन्दी के महा-कवि गोस्वामी जी ने अपनी रचना में इस प्रकार परिभाषित किया है—

> कञ्चन तजिबो सहज है, सहज तिया को नेह।
> मान-बड़ाई ईर्षा तुलसी दुर्लभ येह॥

देखने में भी प्राय: यही आता है कि घर द्वार खेती बाड़ी या अन्य सम्पत्ति का अम्बार छोड़कर साधु जीवन की परम्परा अपनाने वाले तो प्राय: बहुतायत से मिल जाते हैं किन्तु मान और बड़ाई प्राप्त करने की लालसा का परित्याग करने वाले विरले ही मिल पाते हैं। मान-बड़ाई और पद-प्रतिष्ठा पाने की उत्कट लालसा को बनाये रखना ही तो 'लोकैषणा' कहलाती है।

इस लोकैषणा की दौड़ में राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में जितनी आपा-धापी या स्पर्धा है उसे सभी जानते हैं। छोटे हों या बड़े सभी एक-दूसरे को बलात् धकिया कर आगे निकलने के प्रयासों में रत नजर आते हैं। विधान सभाओं के क्षेत्र ही नहीं किन्तु संसद जैसी सर्वोच्च संस्था भी इस आपा धापी की दौड़ में पीछे नहीं है। जब इन क्षेत्रों में काम करने वालों को वित्तेषणा और लोकैषणा दोनों ही यहाँ एक साथ मिल जाती हैं तब क्यों इन क्षेत्रों को त्यागा जाय? यह बात अलग है कि इन सुविधा सम्पन्न क्षेत्रों में पहुँचकर भी भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जैसे कुछ ऐसे भी मनीषी मिल जाते रहे जिन्हें न्याय और व्यवस्था के साथ प्राप्त होने वाली वित्त राशि भी लेना स्वीकार नहीं हुआ। यह कितना चिन्तनीय विषय है कि राजेन्द्र बाबू जैसे आदर्श चरित्र का अनुगमन करने वाले एक दर्जन सांसद भी निकल कर कभी सामने नहीं आये, देश की संसद में से भी। और इससे भी अधिक शोचनीय दशा पाते हैं हम धार्मिक जगत में।

'जो माया सन्तनि सबी सो विषयिन लिपटाय' का उद्घोष लगाने वाले भी जो पुत्रेषणा और किसी अंश में वित्तेषणा से अलग तो हैं पर लोकैषणा का परित्याग नहीं कर पाते। 'हम भी किसी धर्म प्रचारक संघ या संस्था के शिरमौर बनकर रहें'

'हमारा ही संस्था में बोलबाला रहे, हम ही किसी संस्था के क्रिया-कलापों के मुख्य संचालक रहें'—यह कुप्रवृत्ति, वैराग्य और योग का व्रत लेकर घरबार त्याग कर आने वाले वैरागियों और साधकों में भी देखने को मिलती है। सम्भवतः इसी कुप्रवृत्ति की बहुतायत देखकर किसी ने कहा है :

**लालों की नहिं बोरियां, हंसों की नहिं पांत।**
**सिंहों के लेहड़े नहीं, साधु न चलें जमात॥**

लेकिन प्रतिकूल इसके यह भी मानना होगा कि अभाव नहीं है देश में तीनों ऐषणाओं के ठुकराकर आगे बढ़ने वाले साधु पुरुष योगीजनों का। भले ही वे कम क्यों न हों।

योग-प्रचार एवं योग-प्रशिक्षण के क्षेत्र में आगरा जनपद में सराई, एत्मादपुर स्थित श्री सिद्धगुफा नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त संस्था से प्रायः सभी सुपरिचित हैं। इसके प्रतिष्ठापक और प्राण-पोषक सुविख्यात सिद्धयोगी—परम श्रद्धेय श्री चन्द्रमोहनजी महाराज और इनके गुरुदेव प्रभुवर श्रीरामलालजी महाराज से प्रायः योग-साधना क्षेत्र के सभी साधक परिचित हैं, अपनी त्यागवृत्ति और लोक-कल्याण की भावना से भूषित ये सभी प्रकार की सिद्धियों से सम्पन्न थे, लेकिन अपनी सिद्धि-सम्पन्नता को इन्होंने न तो कभी प्रदर्शन का आधार बनाया न इसे अपने सम्मान और पद-प्रतिष्ठा पाने का हेतु। वित्तैषणा और पुत्रैषणा से तो बालकपन से यह अलग रहे लोकैषणा—अर्जन का भी कभी कोई प्रयास इन्होंने नहीं किया।

यह बात अलग है कि लोकैषणा और पद-प्रतिष्ठा सदा इनकी अनुगामिनी बनी रहती थीं। आध्यात्मिक सम्पदा के धनी होते हुए भी न कभी इसकी आड़ में मान पाने की इन्होंने इच्छा की और न इन्होंने कभी अपने किसी लोककल्याण-कारी कार्यों पर किसी भी प्रकार के गौरव को अहं का रूप दिया। ऐसे अपने सभी कृपा-प्रसादों का श्रेय यह अपने व्यक्तित्व को छिपाकर अपने गुरुदेव प्रभु रामलालजी के चरण-शरण को ही दिया करते थे। वित्तैषणा तो उन्हें बिना मांगे ही अपने हजारों-लाखों साधकों से प्राप्त हो जाती रही। लेकिन जो धन उन्हें इस प्रकार मिलता था उसे लोकहित में आश्रम के विकास और निर्माण में ही लगाते रहे। इसमें अपनी आसक्ति अथवा राग उन्हें कभी नहीं रहा ? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह रहा कि अपनी भौतिक देह को ब्रह्मलीन करते हुए—गुरुवर श्री चन्द्रमोहन महाराज आश्रम की विशाल सम्पत्ति को चाहे वह भवनों या भूमि खण्डों के रूप में रही या श्री-रूप में—सबको अनदेखा करते हुए ऐसे सहजभाव से चले गये जैसे—

राजीव लोचन राम चले तजि, अवध को राज बटाऊ की नाईं।

इनकी ऋजुता, साधुता और तप-त्याग पूर्ण जीवन हमें योगी जीवन के ऊँचे मान दण्डों की ओर बढ़ने के लिए सदैव प्रेरित करता रहेगा। —सम्पादक

# रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी ।
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी' ॥

## भगवान् सूर्य का अक्षय पात्र

महाभारत वनपर्व का प्रसंग है—

**म**हाराज युधिष्ठिर सत्यवादी, सदाचारी और धर्म के अवतार थे। महान् से महान् संकट पड़ने पर भी उन्होंने कभी धर्म का त्याग नहीं किया। ऐसा सब कुछ होते हुए भी राजा होने के नाते दैवात् वे द्यूत-क्रीड़ा में सम्मिलित हो गये। जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र दूरस्थ देश में अपने शत्रुओं के विनाश में लगे हुए थे, उस समय महाराज युधिष्ठिर को जुए में अपना राज्य, धन-धान्य एवं समस्त सम्पदा गँवानी पड़ी। अन्त में उन्हें बारह वर्षों का वनवास भी जुए में हार स्वरूप मिला। महाराज युधिष्ठिर अपने पाँचों भाइयों के साथ वनवास के कठिन दुःख को झेलने चल पड़े। साथ में महासती द्रौपदी भी थीं। महाराज युधिष्ठिर के साथ उनके अनुयायी ब्राह्मणों का वह दल भी चल पड़ा, जो अपने धर्मात्मा राजा के बिना अपना जीवन व्यर्थ मानता था। उन ब्राह्मणों को समझाते हुए महाराज युधिष्ठिर ने कहा—'ब्राह्मणो! जुए में मेरा सर्वस्व हरण हो गया है। हम फल-फूल तथा अन्न के आहार पर रहने का निश्चित कर संतप्त-हृदय से वन में जा रहे हैं। वन की इस यात्रा में महान् कष्ट होगा; अतः आप सब मेरा साथ छोड़कर अपने-अपने स्थान की ओर जायें।' ब्राह्मणों ने दृढ़ता के साथ कहा—महाराज! आप हमारे भरण-पोषण की चिन्ता न करें। अपने लिए हम स्वयं ही अन्न आदि की व्यवस्था कर लेंगे। हम सभी ब्राह्मण आपका अभीष्ट-चिन्तन करेंगे और मार्ग में सुन्दर-सुन्दर कथा प्रसंग से आपके मन को प्रसन्न रक्खेंगे, साथ ही आपके साथ प्रसन्नतापूर्वक वन-विचरण का आनन्द भी उठायेंगे।'

महाराज युधिष्ठिर उन ब्राह्मणों के इस निश्चय और अपनी स्थिति को जानकर चिन्तित हो गये। उनको चिन्तित देखकर परमार्थ-चिन्तन में तत्पर और अध्यात्म-विषय के महान् विद्वान् शौनकजी ने महाराज युधिष्ठिर से सांख्य योग एवं कर्मयोग पर विचार-विमर्श किया और धन की अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए बोले—'जो मानव धर्म करने के लिए धन के उपार्जन की कामना करता है, उसकी वह इच्छा ठीक नहीं है, अतः धन के उपार्जन की इच्छा नहीं करना ही उचित है। कीचड़ लगाकर पुनः उसके धोने से कीचड़ नहीं लगाना ही ठीक है, श्रेयस्कर और रहता है—

**धर्मार्थस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।**
**प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥**

शौनकजी ने वन-यात्रा में युधिष्ठिर को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक विचित्र त्यागी का मार्ग अपनाने के लिए बताया था। फिर भी सत्पुरुष के लिए अपने अतिथियों का स्वागत-सत्कार करना परम कर्तव्य है, तो ऐसी स्थिति में स्वागत कैसे किया जा सकेगा ? युधिष्ठिर के इस प्रश्न पर शौनकजी ने कहा—

**तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।**
**सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥**

'हे युधिष्ठिर ! अतिथियों के स्वागतार्थ आसन के लिए तृण, बैठने के लिए स्थान, जल और चौथी मधुर वाणी—इन चार वस्तुओं का अभाव सत्पुरुषों के घर में कभी नहीं रहता ।' इनके द्वारा अतिथि-सेवा का धर्म निभ सकता है।

महाराज युधिष्ठिर अपने पुरोहित धौम्य की सेवा में उपस्थित हुए और उनकी सलाह से सूर्य भगवान् की उपासना में जुट गये। पुरोहित भगवान् सूर्य के अष्टोत्तर-शतनाम-स्तोत्र (एक सौ आठ नामों का जप) का अनुष्ठान बताया और उपासना की विधि समझायी। महाराज युधिष्ठिर सूर्योपासना के कठिन नियमों का पालन करते हुए सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क, सविता, रवि इत्यादि एक सौ आठ नामों का जप करने लगे। महाराज युधिष्ठिर ने सूर्यदेव की प्रार्थना करते हुए कहा—

**त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम् ।**
**त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ॥**
**त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम् ।**
**अनावृतार्गला द्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ॥**
**त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाशते ।**
**त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया ॥**

'हे सूर्यदेव ! आप अखिल जगत् के नेत्र तथा समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। आप ही सब जीवों के उत्पत्ति स्थान हैं और सब जीवों के कर्मानुष्ठान में लगे हुए जीवों के सदाचार हैं। हे सूर्यदेव ! आप ही सम्पूर्ण सांख्ययोगियों के प्राप्तव्य स्थान हैं। आप ही मोक्ष के खुले द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओं की गति हैं। हे सूर्यदेव ! आप ही सारे संसार को धारण करते हैं। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आप ही इस संसार का बिना किसी स्वार्थ के पालन करते हैं।' कहते हैं कि सूर्यदेव ने इसी स्तोत्र के नियमित जाप से प्रसन्न होकर धर्मराज को अपना एक अक्षयपात्र भेंट किया था जिसमें बनाया हुआ भोज्य पदार्थ अक्षय बन जाता था। भगवान सूर्य का यह अक्षयपात्र ताम्र की एक विचित्र बटलोई थी, जिसकी विशेषता यह थी कि उसमें बना हुआ भोज्य पदार्थ तब तक अक्षय बना रहता था, जब तक द्रौपदी भोजन नहीं कर लेती थीं।

यह कथा प्रसंग यहाँ भारत कालीन विज्ञान का परिचायक है।

—योगी रमताराम की डायरी से

☐ श्री विष्णु प्रसाद व्यास

# -: जीवन एक स्वप्न है :-

हम जाना था खायेंगे, बहु जमीन बहु माल।
ज्यों का त्यों ही रह गया, पकड़ ले गया काल॥

प्रमाद की नींद में पड़ा हुआ मनुष्य अनेक प्रकार के स्वप्न देखा करता है। कभी गगन चुम्बी गिरि-शिखरों पर विजय पाता और कभी सातों आकाशों को पार करता हुआ प्राकृतिक सुषमाओं से प्रफुल्लित होता है तो कभी पर्वत कन्दराओं में बैठकर तप करता और कभी महासागर की गहराई में उतर कर रत्न और मोती निकाल लाता है—कभी संग्रामों में जूझकर विजय-दुन्दुभियां बजाता हुआ राजसिंहासन पर अधिकार करके अपने को सौभाग्यशाली समझता है। कभी वह समय भी आ जाता है जबकि वह भिखारियों का बाना पहने द्वार-द्वार भटकता और भीख माँगने लगता है। स्वप्न तो निदान सपना ही है। समय कभी हर्षोल्लास का, कभी विविध विलास का, कभी शासन का देखने में आता है तो कभी दुःख क्लेश, विपदाओं के भी अवसर आ जाते हैं। हर्ष और विषाद की घड़ियां भी कभी सामने आ जाती हैं परन्तु होता है यह सब कुछ क्षण भर के लिए ही।

नित्यता कहीं भी नहीं। स्थिरता कभी भी नहीं। सब कुछ क्षणिक और अनित्य है। अपने जीवन नाटक पर तनिक दृष्टि डालो जन्मकाल में जीव कितना असहाय और पराधीन होता है। मक्खी तक उड़ाने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। बिस्तर पर पड़े रोना, सिसकना, वहीं मल-मूत्र विसर्जन कर देना गन्दगी में लथपथ होता है। मक्खियां भिनभिनाती हैं। कितना अबोधपन है तदुपरान्त जीव ने कितनी दशायें बदलीं—बचपन, लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा, स्वास्थ्य रोग, हर्ष-शोक, सुख-दुःख के कितने अवसर आये धूप-छांह की तरह या ऋतु-परिवर्तन की न्याई निकल गये। कोई दशा भी स्थिर रहने में नहीं आती।

अज्ञानी जीव मृत्यु को भुलाकर धन संग्रह करता है। महल बनवाता है। विशाल उमंगें उठाता है कि मैं यह करूँगा मैं वह करूँगा—आज यह किया और कल वह करूँगा—जैसा कि आरम्भ में दोहा लिखा गया है कि 'हम जाना था खायेंगे—बहु जमीन बहु माल' हमने सोचा था कि यह सम्पत्ति हमारी पैतृक है—बहुत काफी जमीन है, बड़ी भारी जायदाद है, देश है, निवास सामग्री है और बड़े आनन्द में बैठकर यह सब खायेंगे—किन्तु कहां! ज्यों का त्यों ही रह गया। पकड़ ले गया काल' यह तो एक स्वप्न है जो देखा था। आंख खुल गई सब कुछ वहीं का वहीं रह गया। काल भगवान ने आकर प्रमाद-निन्द्रा से जगा दिया और पकड़ कर अपने साथ ले गया और सब कुछ गुड़-गोबर हो गया।

जो मनुष्य व्यर्थ के धन्धों में संलग्न रहकर कर्त्तव्य कार्यों को कल पर छोड़ देता देता है उसकी अन्त में यही गति होती है कि अकस्मात् ही काल भगवान आकर उसका गला दबोच लेते हैं। उस समय वह कहता है

कि खेद ! मेरे मन की बात मन में ही रह गई—न मैंने हरि का भजन किया और न ही तीर्थाटन किया और कोई पुण्य कर्म भी न किया—निरर्थक कार्यों में जीवन का अमूल्य धन लुटा दिया अब जबकि काल ने आकर चोटी पकड़ ली है क्या करूँ ! अब कुछ नहीं हो सकता पश्चात्ताप करने या हाथ मलमल कर रोने-धोने से हो ही क्या सकता है।

बुद्धिमान पुरुष को आवश्यक है कि मृत्यु से पूर्व मोह-निद्रा से जाग उठे और अपनी आत्मिक लाभ-हानि की चिन्ता करे—अपनी दशा का गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करे अपनी अमूल्य श्वास रूपी सम्पत्ति से मूल्यवान वस्तु ही खरीद करे जिस व्यापार के लिए मनुष्य जगत में आया है। वह सम्पदा तो सत्पुरुषों की संगत में मिलती।

नाम ही एक सार वस्तु है इसके अतिरिक्त शेष सब कुछ अस्थिर और अनित्य है। विरले भाग्यशाली मनुष्य ही नाम का व्यापार करते हैं—श्वासों की अमूल्य सम्पत्ति के बदले परमात्मा की प्रसन्नता पाते हैं। जो लोग अनमोल जीवन नाम के निमित्त लगा देते हैं वे धन्य हैं। उनके माता-पिता सारा वंश और नगर भी धन्य है।

उस जीवन को सत्पुरुष धिक्कारते हैं जिसमें प्रभु प्यार नहीं है। उन व्यवहारों को भी धिक्कार है जिनके कारण भगवद्भक्ति में अन्तर पड़ता है। संसार का प्यार प्रबल होता है। ऐसे खान-पान व पहरान भी धिक्कार के योग्य हैं। सत्पुरुष उपदेश करते हैं कि ऐ मनुष्य ! मोह-निद्रा से जाग जा और अपने कार्य में लग जा—सच्चे प्रभु से मिलाप करने का स्वर्णिम अवसर तुम्हें मिला है। यह अवसर यदि हाथ से निकल गया तो बड़ा ही अनुताप करना पड़ेगा—एक बार यदि सीढ़ी से पाँव रपट जाय तो सँभलना अति कठिन होता है। प्रमाद का परिणाम दुःखदायी है—स्मरण रखो।

'गफलत करोगे तो खाओगे मार,
बेटा व बेटी कोई लेगा न सार।

अभी समय है कुछ नहीं बिगड़ा, दिन का भूला शाम को घर आ जाय तो कोई हानि नहीं।

ऐ मनुष्य ! तुम्हारा जितना भी वश चल सके अपनी मनोधारा को बुराइयों से मोड़कर भक्ति में लगा दे। यदि तूने कहीं युवावस्था में ईश्वर से मुँह मोड़े रखा है तो अब बुढ़ापे में तो उधर ध्यान दे—क्या तू देखता नहीं कि प्रभात में जिस तरह गाय, भैंसें, बैल, घोड़े, बकरियाँ, ऊँट आदि वन में चरने जाते हैं सन्ध्याकाल में सभी अपने घर लौट आते हैं। इसी तरह तू भी जीवन की सन्ध्या होते-होते अपने घर की सुधि ले क्योंकि इस संसार की धर्मशाला से तो तुझे तुरन्त कूँच करना होगा।

महापुरुष (गुरुदेव) अति दयावान होते हैं वे जीव को निराश नहीं करते वे बार-बार समझाते हैं कि तू यदि अभी तक भूला रहा है तो चिन्ता न कर अब भी सीधे मार्ग पर आ जा सब क्षमा हो जायेगी।

जीवन का कोई विश्वास नहीं। इसलिये समय का मूल्य पहचानते हुए मिथ्या विचारों को झटका कर निज कार्य में लग जाना चाहिए। जिससे ऐसा न हो कि अन्तकाल में आर्त स्वर में यह कहना पड़े।

हम जाना था खावेंगे, बहु जमीन बहु माल।
ज्यों का त्यों ही रह गया, पकड़ ले गया काल॥
आछे दिन पाछे गये, गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करे, जब चिड़िया चुग गई खेत॥

★

श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल

# सद्गुरु कौन ?

कहते हैं जो मोह-तम के भ्रम को दूर कर ब्रह्म से मिलाये वही सद्गुरु होता है ?

श्री गुरुगीता में 'गुरु' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है :

**"गुकारस्त्वन्धकारः, स्याद**
**रुकार स्तेज उच्यते ।"**
**अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव**
**न संशयः ॥**
**गुकारः प्रथमो वर्णो**
**मायादिगुण भासकः ।**
**रुकारो द्वितीयो ब्रह्म,**
**माया भ्रान्ति विमोचकः ॥**

अर्थात्— 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है तेज (प्रकाश) जो अज्ञान का नाश करने वाला तेज रूप ब्रह्म, गुरु ही है, इसमें संशय नहीं ।

गुकार (गुरु शब्द का) प्रथम वर्ण माया आदि गुणों का भास कराने वाला है, तथा 'रुकार' यह द्वितीय वर्ण ब्रह्म से सम्बद्ध माया, जो भ्रम पैदा करती है, उसका नाश करने वाला है ।

शास्त्रों में माया की दो शक्तियाँ बताई गई हैं जिसमें एक है आवरण शक्ति तथा दूसरी है विक्षेप शक्ति । माया का आवरण शक्ति ब्रह्म को ढककर रखती है और माया की विक्षेप शक्ति ब्रह्म के आधार पर जगत का भास कराती है । ठीक इसी प्रकार अन्धकार (अज्ञान) के भी दो काम हैं । पहला अन्धकार में पड़ी रस्सी को ढके रखना और दूसरा रस्सी में सर्प का भास उत्पन्न करना । सर्प नहीं है पर अन्धकार में पड़ी हुए रस्सी, रस्सी नहीं दीख पड़ती; रस्सी सर्प दिखाई पड़ती है । ठीक प्रकार अज्ञान-अन्धकार में ब्रह्म सत्य है, वह नहीं दीखता; और जगत मिथ्या है, जगत नहीं है, यह सत्य है, ऐसा दीख पड़ता है । "ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या" की जगह जगत सत्य है; ऐसा दीखता है, ब्रह्म झूठा प्रतीत होता है ।

'गुरु' शब्द की व्याख्या के अनुसार गुरुदेव का मुख्य कार्य है अज्ञान अन्धकार का नाश करके ज्ञान का प्रकाश करना और यह मोह मयी माया जो भ्रम पैदा करती है, का नाश करना । जो यह कार्य करने में सब प्रकार से समर्थ होता है वस्तुतः वही 'गुरु' शब्द का अनुरूप शुद्ध सद्गुरु होता है । तुलसीदास ने ऐसे ही सद्गुरु की वन्दना करते हुए कहा है :

सन्दहु गुरु पद कंज
कृपा सिन्धु नर रूप हरि ।
महा मोह तम पुन्ज
जासु वचन रविकर निकर ।

श्रीगुरु गीता में भी इसी प्रकार के गुरुदेव को नमस्कार किया गया है :

"अज्ञानतिमिरान्धस्य
ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन
तस्मै श्री गुरुवेनमः ॥

अर्थात्—जो ज्ञान रूपी अंजन की शलाका लगाकर अज्ञान रूपी अंधेरे से अंधी हुई जीवों की आंखों को खोलते हैं, उन श्री गुरुदेव को हम नमस्कार करते हैं।

रामायण में भी कहा है :

दलन मोह तम सो सु प्रकासू ।
बड़े भाग्य उर आवहि जासू ॥

यह मोह अज्ञान से उत्पन्न होता है; और इस मोह-अज्ञान को अन्धकार कहा है। मोह अज्ञान में उत्पन्न होकर अहंकार से प्रेरित होकर फलता-फूलता है ममत्व इसका आहार है; और शोक इसका परिणाम है। मोह का ही दूसरा नाम माया है। माया छाया के समान झूठी है। जो कुछ होकर के भी कुछ भी नहीं है। माया माने जो नहीं है, लेकिन भासित होती है। माया शब्द कोष में मोह के अर्थ में आया है, "झूठ और भ्रम"।

यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि माया 'झूठ' होते हुए भी-मात्र एक भ्रम होते हुए भी मोह का, भ्रम का जाल इतना व्यापक और सशक्त सिद्ध हुआ है कि विरला ही इस मोह माया के भ्रामक जाल से, इसकी पकड़ से बच पाता है। यदि कहीं यह झूठा और भ्रम मात्र न होकर वास्तविक; यथार्थ सत्य होती तो न मालूम क्या दशा हुई होती।

जो जैसा हो उसे वैसा ही जानना, ज्ञान है और वैसा न जानना ही अज्ञान है। जैसे अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को रस्सी न मानकर, मानकर उसे सर्प मानना यही अज्ञान अन्धकार है और प्रकाश होने पर रस्सी को रस्सी जानना; सर्प न जानना, यही ज्ञान का प्रकाश है। मोह इस अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। अंधेरे में जैसे हम रस्सी को सर्प समझ बैठते हैं और भ्रम के भय के कारण दुःखी होते हैं उसी प्रकार अज्ञान—मोह तम के अन्धकार में हम जो हमारा नहीं है उसे अपना तथा जो हम नहीं हैं वैसा अपने को मानकर ही हम दुःखी होते हैं। यह भ्रम ही मोह है जो ज्ञान का प्रकाश होते ही दूर हो जाता है और तब हम समझ पाते हैं कि यह तो हमारे नहीं हैं, यह तो हम नहीं हैं। या यह रस्सी है जिसे हम भ्रमवश सर्प समझकर डरकर दुःखी होते हैं।

सद्गुरुदेव का जो मुख्य कार्य है वह यही होता है कि वह हमें इसी माया-मोह-अज्ञान-भ्रम अन्धकार से हमें मुक्त करते हैं; जिसके कारण हम नाना प्रकार के दुःख-शोक सहते हैं। वह गुरुदेव ही हमें इस मोह-माया-अज्ञान-अन्धकार से निकालकर ब्रह्मज्ञान-आत्मज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाते हैं।

मोह—ममता के कारण जीव व्यक्ति से वस्तु से 'मेरी' मेरा करके बंधता है। मृत्यु का दुःख महा भयानक है और यह महा-भयानक तब होता है जब मोह, आसक्ति की जंजीरें जीव को जकड़ लेती हैं बांध लेती हैं। माया मोह की अपार सम्पदा माया पति ने प्रकृति (संसार) के रूप में समग्र मानवता को प्रदान की है। वस्तुओं का मोह, जमीन धन, पद, यश, व्यक्तियों का पारिवारिक मोह-ममता, स्वयं अपनी देह का मोह, आदि, इन्हीं सबके मोह-ममता के कारण जीव इनसे बँध जाता है, चूंकि हम इन सबके मोह पाश में बंधे हुए होते हैं इसलिए जीवन में,

स्वतन्त्रता का, शान्ति का, आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते। मेरा शरीर, मेरा परिवार, मेरी सम्पत्ति नष्ट न हो इसी के कारण जीवन में भय, दुःख और शोक है। इस मोह-ममता का नष्ट होना, अत्यन्त कठिन बात है। और जब तक मोह ममता आसक्ति नहीं मिट जाती तब तक मृत्यु भी नहीं मिटती जन्म भी नहीं मिटता, तब तक अज्ञान, भय, दुःख शोक, भी नहीं मिटता।

मोह हमारी मूढ़ता का, अज्ञानता का परिचायक है। यह मोह की जंजीरें जब टूटती हैं तभी हमें आत्म-परमात्मा की एकता तथा शरीर और संसार की एकता का ज्ञान होता है। आत्म-अज्ञान के मिटते ही मोह नींद से हम जाग जाते हैं। शायद हमें यह पता भी नहीं होगा कि हम रात की नींद के स्वप्न की तरह जाग्रत जगत में भी हम जगे हुए अपने को मानते हुए भी हम सब सो रहे हैं। तुलसीदास जी के अनुसार एक योगी को छोड़कर बाकी सारा संसार मोह की नींद सो रहा है और उस निद्रा में अनेक प्रकार के स्वप्न देख रहा है। यथा :

मोह निसा सोवहि जग सारा।
देखहि स्वप्न अनेक प्रकारा ॥
यहि जग जामिन जागत योगी।
जगभ्रम त्याग प्रपंच वियोगी ॥
सब प्रपञ्च, निज, उदर मेलि,
सोवे, निद्रा तजि योगी ॥

योगी सिद्ध सद्गुरु संसार के समस्त प्रपञ्च को त्याग कर आत्मा में स्थिति होकर योग समाधि में सोता है। कहा भी है : "निद्रा समाधि स्थिति योगी की योग निद्रा समाधि है। योगी सांसारिक जीवों की निद्रा, जाग्रत दोनों में उपाधि-व्याधि है।"

जेहि जाने जग जाइ हेराई।
जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई ॥

अर्थात्—सत्स्वरूप ब्रह्म, सत् स्वरूप आत्मा को जानना ही जागना है। इस जागरण में जगत प्रपञ्च उसी तरह समाप्त हो जाता है जैसे जागने पर स्वप्न समाप्त हो जाता है। इसलिए कहा भी है :—

आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा।
तब भव मूलभेद भ्रम नाशा ॥
मैं अरुमोर, मूढ़ता त्यागू।
महामोह निस सोवत जागू ॥

जब योगी को समाधि में आत्मा का अनुभव, साक्षात्कार हो जाता है तब जीवात्मा के भेद-भ्रम का नाश हो जाता है।

जिस प्रकार स्वप्न में हमें हमारा मन भटकाता है उसी प्रकार जाग्रति में भी हमें यह मन ही भटकाता है; अनेक प्रकार के स्वप्न दिखाकर। यही मन की मोह माया है। रात को सोने पर स्वप्न देखा, भटक गए घने जंगल में, भूखे-प्यासे खोजते हैं मार्ग, नहीं मिलता मार्ग, और रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, बड़े दुखी हैं और व्यथित होते हैं तभी फिर नींद खुल जाती है, जाग जाते हैं। एक ही क्षण में सारा वातावरण स्थिति बदल जाती है जहां नींद में स्वप्न के कारण व्यथा थी दुःख था वहां फिर स्वप्न को मिथ्या मन की कल्पना समझकर हँसी आ जाती है—और हम तब प्रसन्न होते हैं। यह जानकर कि यह व्यथा एक स्वप्न ही तो था। लेकिन विचारना होगा कि स्वप्न, मनकी झूठी कल्पना इतना सत्य क्यों प्रतीत हुआ? इस मिथ्या स्वप्न में हम इतना क्यों मोहित हो गये, बेहोश हो गये, खो गये जिससे हम यह याद क्यों न कर पाए स्वप्न में कि यह मात्र स्वप्न है, जो कि झूठा है। हमें यह बोध क्यों नहीं

जाता कि जो कुछ भी मैं देख रहा हूँ, वास्तविक नहीं है, झूठा है, यह सब मेरे ही मन की मिथ्या कल्पना है। अपने भारतीय दर्शन शास्त्रों का नाम जो 'दर्शन' दिया गया है, जैसा योग-दर्शन आदि। इसलिए कि यह हमें मोह-निद्रा से जगाते हैं। और सत्य का दर्शन कराते हैं। जो सत्य को सत्य, झूठ को झूठ दिखाते हैं, दर्शन कराते हैं।

सत्य का अर्थ है यथार्थता। जो चीज जैसी है उसे उसी रूप में समझना, मानना और प्रयुक्त करना। अज्ञान-अन्धकार में सत्य एक प्रकार से छिपा हुआ है। मोह-ममता के कारण हमें लगता है हम जो सोचते हैं, जो देखते हैं, जो करते हैं वही सत्य लगता है। हम सभी अपनी-अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार मान्यता और धारणाओं को ही सत्य मान लेते हैं। वास्तविक सत्य को जानने का प्रयास नहीं करते। अज्ञान-अन्धकार से ढके हुए इस युग में अन्धेरे में जो जैसा हमें दीखता है, उसी को सत्य मान लेते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में हमारा कोई सिर काट ले उसका दुःख हमारे जागने पर ही दूर हो सकता है। कहा भी है।

ज्यों सपने सिर काटे कोई।
जागे बिन दुःख दूर न होई॥

ठीक उसी प्रकार हमारे जागकर देखने से ही इस जागतिक प्रपञ्च भ्रम से जो हमें दुःख दे रहा है दूर हो जाता है। ठीक उसी तरह जिस तरह रात्रि का स्वप्न जागने पर विलीन हो जाता है। यह जागृत की जो निद्रा है, वह मन के मोह की ही है दिन में भी मनुष्य रात्रि के स्वप्नों की तरह मन की कल्पनाओं के स्वप्नों में खो जाता है। इसी मोह निद्रा से, मन की माया से सद्गुरुदेव हमें जगाते हैं। और जब हम पूर्णतः जाग जाते हैं। तभी हमें अपनी सत्ता (आत्मा) के सत्य की आत्मा के आनन्द की उपलब्धि कर पाते हैं। और जब तक मोह निद्रा में हम सोये हुए रहते हैं तब तक मन के रचे हुए दुःखद सपनों को देखकर दुःखी होते रहते हैं तथा सुखद सपनों को देखकर सुखी होते रहते हैं। लेकिन आनन्द नहीं ले पाते। जीवन के समस्त दुःखों का एक ही कारण है। स्वयं की वास्तविकता को भूल जाना, अर्थात् स्वरूप विस्मृति ही दुःख है और इसी प्रकार एक ही आनन्द है और वह है स्वयं की वास्तविकता को पुनः उपलब्ध कर लेना। इसी को आत्म साक्षात्कार कहते हैं, इसी को समाधि कहा है।

यह मोह माया-छाया की तरह है। माया को समझने के लिए छाया को जानें, कि यह छाया क्या है? जैसे सूर्य नारायण का प्रकाश और हम स्वयं दो के होने पर एक तीसरी वस्तु छाया और बन जाती है लेकिन यह छाया तब बनती है जब हम सूरज की ओर पीठ करके चलते हैं। तब वह हमारी छाया हमारे आगे दिखाई पड़ती है। यद्यपि वह छाया हमसे ही बनती है और हम यदि उस छाया को पकड़ना चाहें उसे पकड़ने का प्रयास जीवन पर्यन्त करते रहें तो भी वह पकड़न में नहीं आयेगी। क्योंकि वह हमारी ही छाया है, हम जैसे-जैसे उसे पकड़ने के लिए आगे बढ़ते हैं वह भी आगे बढ़ती रहती है ऐसा आभास सदा होता रहता है कि अभी हम इसे पकड़ लेंगे जब हमारा बहाव छाया को पकड़ने की ओर होता है तब सूरज का प्रकाश हमारी पीठ पर ही पड़ता है। आँखों के मुँह के सामने नहीं पड़ता इसलिए छाया को पकड़ने का प्रयास निरर्थक हो जाता है। और जब हम छाया की उपेक्षा करके उसकी

ओर पीठ करके सूरज की ओर मुंह करके चलने लगते हैं तब वहीं पकड़ाई न देने वाली हमारी छाया हमारे पीछे-पीछे आने लगती है।

ठीक इसी प्रकार परमात्मा-आत्मा (सूरज की तरह है) और जीवात्मा (जीव का क्षुद्र अहं) के होने पर तीसरी वस्तु छाया रूपी माया भी प्रतीत होने लगती है। जब जीव सूर्य रूप परमात्मा-आत्मा को पीठ देकर चलता है अर्थात् इनके विमुख होकर चलता है तब वह माया के सम्मुख हो जाता है। अर्थात्—एक की सन्मुखता और दूसरे की विमुखता स्वतः ही हो जाती है। ऐसी स्थिति में जब मनुष्य माया को अपने अधिकार में करने के लिए उसे प्राप्त करने के लिए उसकी ओर चलता है तब वह भी छाया की तरह दूर-दूर भागती है आगे-आगे चलती है, पकड़ में आती ही नहीं। मनुष्य इस (माया का कुछ अंश धन, स्त्री पुत्रादि, जमीन, ज्यादाद) को अपने अधिकार में आया समझता है वह सारा गुड़ भी एक दिन गोबर हो जाता है। इन्हें अपना, अपनी समझकर भी हम अपना नहीं बना पाते; यह हमारी नहीं होती। अन्त में यह शरीर स्त्री, पुत्र, धन, जिन्हें अपना माना था सभी यहीं के यहीं छूट जाते हैं हमारे होते नहीं; हम भले ही इनके होकर मरें इनके लिए खपते रहें; इनके निमित्त किए पापों के संस्कार हमारे साथ जाते हैं। इनके लिए किये गये पाप कर्मों का फल केवल हमें ही भोगना पड़ता है।

इस प्रकार माया के सन्मुख और परमात्मा से विमुख होने से सूरज स्वरूप परमात्मा के प्रकाश सदृश्य ज्ञान व आनन्द से हमें वंचित रहना पड़ता है। किन्तु जब हम सूरज की तरफ परमात्मा के सन्मुख होकर छाया रूप माया की ओर पीठ कर लेते हैं; तब सूरज के प्रकाश की भाँति ईश्वरीय शक्ति, शान्ति व आनन्द की प्राप्ति होती है तथा साथ ही छाया रूप माया हमारे पीछे-पीछे चलती है।

गोस्वामी तुलसीदास अपनी स्त्री की मोह-माया में इतने अन्धे हो गये कि जिन्हें नव-विवाहिता स्त्री के अपने मायके चले जाने पर उसके वियोग में ऐसे बेचैन हो गये कि इन्होंने मुर्दे को लकड़ी का लट्ठा समझा तथा ससुर के घर नाली में लटके हुए सर्प को रस्सी समझकर उसे पकड़कर छत पर चढ़कर स्त्री को जगाया रात्रि में। लेकिन तुलसीदास जी की पत्नी ने तो उन्हें मोह निद्रा में सोते हुये ही यह दोहा कहकर जगा दिया—

अस्थि-चरम मम देह सों तुमको ऐसी प्रीति।<br>
जो होती रघुनाथ सों तो होती ना भवभीत॥

कामासक्त तुलसीदास को काम से विमुख करके राम के सन्मुख कर दिया। तभी उन्होंने अपना मायारूपी नार का अनुभव इस प्रकार व्यक्त किया है :

"काम, क्रोध, लोभादि, मद,<br>
प्रबल मोह की धार।<br>
तिन महँ अति दारुण,<br>
दुःखद, माया रूपी नार॥

अर्थात्—काम, क्रोध, लोभ आदि मद हैं, इनमें सबसे प्रबल मोह है और इन सबसे अधिक दारुण दुःख देने वाली यह माया रूपी स्त्री है। जीवों को मोहित, अपने प्रति

आसक्त करके भव के भँवरजाल में फँसाकर पतित करने वाली ईश्वर से विमुख करने वाली माया रूपी स्वयं स्त्री ही है। परन्तु स्त्रियों की ऐसी मधुर मोहनी माया होती है कि मनुष्य उसको माया रूप जानते हुए भी यही कहता रहता है कि यह मेरी स्त्री है। इस माया रूपी स्त्री को अपनी कहना सम्पूर्ण मोह का कारण है। तुलसीदास जी ने कहा भी है:

या माया सब जगहि नचावा।
जासु चरित लखि काहु न पावा॥
माया वश्य जीव अभिमानी।
ईश वश्य माया गुण खानी॥
नारि विवश जग सकल गुसाईं।
नाचत नट, मरकट की नाईं॥

और भी कहा है—

जो नहि होती नारि,
या जग के परली पार।
गवन न दुर्लभ कछुक था,
यह जेत बीच में नारि,
मृग माली मृग लोचनी॥

स्त्री माया स्वरूपा है; सारा संसार इसी मायावी स्त्री के वशीभूत होकर नाच रहा है; इसी स्त्री रूपी माया के चरित को कोई नहीं जान सका है। यह जीव बड़े अभिमान से कहता है कि यह मेरी स्त्री है; सभी जीव स्त्री के वश में हैं। लेकिन ईश्वर माया को अपने अधीन करके रखता है। यह स्त्री रूपी माया जीवों को अपनी मोहनी डालकर अपने वश में करके दुःख देने वाली, नरक में ले जाने वाली, भटकाने वाली, अटकाने वाली रही है। यही योनि कूप या भव कूप में प्राणी को स्त्री की मोह माया बलपूर्वक आक्रमण करके अनादिकाल के लिए योनि यातना रूपी कारागार में बन्द कर देती है। तुलसीदास जी ने :

'मैं' और 'मोर' तोर ते माया।
जेहिवश कीन्हे जीव निकाया॥

अर्थात्—'मैं' शरीर और मेरी स्त्री, मेरा, पुत्र, धन ऐसा मानना ही तो माया है सारे जीव 'मैं' और 'मेरे' के वशीभूत है।

इसके अतिरिक्त अनुभवी सन्तों के मन को माया कहा है यथा :

'मन माया तो एक है माया मन उपजाय।'

मन और माया-मोह एक ही है यह मन ही मोह रूपी माया को उत्पन्न करता है। जीवों का मन स्त्रियों के रूप पर माया रूपी स्त्री के प्रीत भरे वचनों पर मोहित होकर स्त्रियों के वशीभूत हो जाता है। स्त्रियों की तरह ही हर जीव अपने मन के वशीभूत रहता है, उसका मन जो कहता है, वही करता है। स्त्री बन्धनकारी है उसी तरह यह जीव का मन भी बन्धन और मोक्ष का कारण बताया है। मन के मोह, स्त्री के मोह माया के अज्ञान में अन्धकार में सभी अन्धे हो जाते हैं और अपने मन, अपनी स्त्री की आधीनता में होकर इनके इशारे पर नाचते हैं।

इसलिए बिना गुरु के यह जीव मोह-मायामयी स्त्री, मायावी मन की माया के बन्धन से अज्ञान, अन्धकार से तथा अहंकार से नहीं छूट सकता। सद्गुरु ही जीव को माया-मोह, अज्ञान, अन्धकार, भ्रम से मुक्ति दिलाते हैं। गुरु के बिना अज्ञान-अन्धकार

किसी अन्य उपाय से मिटेगा भी नहीं। बिना गुरुदेव के संसारी-मायावी भ्रम के भंवर से पार हो नहीं सकते। सद्गुरुदेव ही ज्ञान की मशाल लेकर अज्ञान-अन्धकार में फंसे दुःखी जीवों को मार्ग दिखाते हैं।

सच्चे सद्गुरु एक अत्याधिक महान उत्तर दायित्व स्वीकार करते हैं। उन्हें अपने शिष्यों का मार्ग-दर्शन तथा उसे श्रेष्ठतर स्थिर-आत्म-परमात्मा में स्थिति प्राप्ति का अधिकारी बनने योग्य बनाते हैं। सच्चे गुरु भगवान के प्रतिनिधि होते हैं। वे भगवान से सम्बन्धित विषय के अतिरिक्त कुछ भी चर्चा नहीं करते हैं और न सुनते हैं। सद्गुरु सद्गुणों के ग्रहण करने तथा दुर्गुणों को त्यागने की शिक्षा देते हैं। सच्चे सद्गुरुओं की समस्त जीवन की दिनचर्या ब्रह्ममय होती है ईश्वर के लिए होती है। जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ईश्वर को अर्पण कर रक्खा है, जो सांसारिक विषय भावनाओं से पूर्णतः विरक्त है जिनका समस्त चिन्तन, मनन तथा समस्त कर्म भगवान के लिए जन कल्याण के लिए है सच्चे गुरु वे ही हैं जिनको सांसारिक जीवन में कोई रुचि नहीं है। सच्चे गुरु केवल और एकमात्र भगवान के हैं और उनका भी भगवान के अलावा अन्य कोई नहीं है यही सच्चे सद्गुरुओं की कसौटी है। सत्यनारायण की चाह, अभिलाषा ही सद्गुरु की सही पहचान है, और असत संसार की, चाह, इच्छा यह असत गुरुओं की पहचान है।

पीतल और सोने जैसा अन्तर होता है। सद्गुरु और असद्गुरु में। पीतल सोने का मूल्य चाहे यही असद्गुरु करते हैं। यही धोखा है। सद्गुरुओं का एक ही जीवन लक्ष्य रहता है; पतित बद्ध भ्रमित-दुखी जीवों का उद्धार करना, ईश्वरोन्मुख करना। केवल गुरुओं की आरती-पूजा या चढ़ौती-चढ़ाने से गुरु तुम्हें मुक्त न कर सकेंगे। इसलिए जब तक तुम गुरुदेव की वाणी, आदेश उपदेशों को श्रद्धा से श्रवण करके उन पर अमल नहीं करोगे तब तक कोई गुरु तुम्हें मुक्त न कर सकेगा आधुनिक गुरु शिष्य के विषय में उत्तरकाण्ड में कहा है :

गुरु सिष बधिर अंधका लेखा।
एक न सुनइ एक नहि देखा ॥

आजकल शिष्य और गुरु में बहरे, और अंधे का सा हिसाब देखने में आता है। एक शिष्य गुरु के उपदेशों को सुनकर भी नहीं सुनता, 'सुनी अनसुनी कर देता है तथा एक 'गुरु' जिसे दीखता नहीं अर्थात् उसे ज्ञान होना प्राप्त नहीं है। रामायण में सद्गुरु की ज्ञान वैराग्य दो आँखें बताई हैं यथा—

'ज्ञान-विराग नयन उर गारी' सद्गुरु का ज्ञान और वैराग्य की दोनों ही आँख होनी चाहिए। गुरु ब्रह्म ज्ञान-तत्त्व ज्ञान की बात तो करे लेकिन विषयों से वैराग्य नहीं ऐसे गुरु को एक आँख का काना समझना चाहिए। जहाँ गुरु के बिना जीव भव सागर से पार नहीं हो सकता वहां पाखण्डी नकली गुरुओं के द्वारा धोखा मिला है : शोषण हुआ है। शिष्यों का, तो एक तरफ मिथ्या गुरुओं के चंगुल से बचना भी है और दूसरी ओर बिना गुरु के भवनिधि तर भी नहीं सकते। इधर जाली नकली नोटों से बचना भी है और उधर बिना नोटों के काम भी नहीं चलता।

असली नोटों से ही काम चलेगा नकली नोट से धोखा ही खाना होगा तो संसार में जाली नकली मुद्रा भी है और असली गुरु भी है। सच्चे गुरु संसारी व्यापारी नहीं होते। नकली गुरु सस्ते मिल जाते हैं। नियम तो

यही है असत् शिष्य को असत्, सत् शिष्य को सब गुण भी मिलते हैं । आज लोग बहुमूल्य वस्तुओं को अत्यन्त सस्ते ढग से लेना चाहते हैं इसीलिए वे नकली गुरुओं के द्वारा ठगे जाते हैं। असत गुरु तो तुम्हें मन मानी करने की अनुमती देदेते हैं। उनका एक ही कहना होता है जो चाहो करो। इस प्रकार के दावेदार गुरुओं से सावधान रहना होगा। जो दावे से चिल्लाकर कहते हैं कि मैं शक्तिपात करके समाधि लगा दूँगा, जो ऐसा दावा करते हैं वे धोखेबाज हैं। जो देने का दावेदार है वह लेगा भी। फिर वह चाहे धन के रूप में तुमसे हो, आदर के रूप ले, श्रद्धा के रूप में ले। किसी भी रूप में ले वह लेगा जरूर। क्योंकि अध्यात्म जगत का आदमी दावेदार नहीं होता वह तो समाधी लगेगी, ईश्वर दर्शन होगा, प्रायः वह यही कहेगा कि यह सब प्रभु कृपा गुरु कृपा से हुआ है मेरे से नहीं।

इसके अलावा वह मोह-ममता, माया रूपी स्त्री सद्‌गुरु नहीं हो सकती वह किसी की पत्नी, बेटी, बहन, माँ तो हो सकती है लेकिन गुरु नहीं हो सकती। नारायण ने स्वयं कहा है कि स्त्री स्वयं मेरी माया का स्वरूप है। स्त्री की माया बड़ी ही प्रबल है। स्त्रियों को मायामय जानते हुए भी ब्रह्मा से कीट पर्यन्त माया मोह के वशीभूत होकर उन्हें अपनी पत्नी मान बैठते हैं। यथार्थ में स्त्री माया है। यह भगवान के अलावा किसी की भी नहीं है। बड़े-बड़े मुनीश्वर, नारद, सनकादिक भी मोहमयी माया के अज्ञान अन्धकार में अंधे हो जाते हैं। वह महामाया बलात अपने में आकृष्ट कर लेती है। यथा– 'बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।' ऐसा कोई भी नहीं जो माया के अधीन न हुआ हो, और मोह का अज्ञानान्धकार जिसे न आच्छादित किया हो। तो स्त्री गुरु करने का साफ अर्थ है कि उसने माया को अपना गुरु बना लिया। स्त्री गुरु तुम्हें मोह-मायावी अन्धकार से निकालेगी या और फसायेगी। गुरु तो परम पुरुष पुरुषोत्तम भगवान शिव ही हैं प्रकृति रूपा पारवती, उमा तो पत्नी है, शिष्य ही उनकी भवानी श्रद्धा स्त्री रूप है और पुरुष शिव विश्वास रूप है।

स्त्रियों में मोह-ममता, देहासक्ति का होना उनका स्वाभाविक गुण है। स्त्रियों में अपने स्त्री शरीर के प्रति अत्यधिक मोह-आसक्त होती है अपनी शक्ति से मुक्त न होने के कारण ही स्त्रियों का मोक्ष प्राप्त नहीं होता। अगर स्त्री गुरु हो भी जायें तो वह किसी को मुक्ति प्रदान क्यों कर सकेगी वह स्वयं ही अपने शरीर की मोह-ममता में बँधी होती है। जिस प्रकार 'छूटहि मल न मल के धोये' के अनुसार मल लगे हुए वस्त्र को मल से धोने से जिस प्रकार मल नहीं हट सकता उसी प्रकार मोह मायावी स्त्री किस को मोह-माया से मुक्त नहीं कर सकती। इन्हीं सब कारणों से शास्त्रों में स्त्रियों का गुरु होना वर्जित किया गया है। इसके बावजूद भी अगर कोई स्त्री गुरु होने का दुस्साहस करती है अथवा कोई पुरुष स्त्री से गुरु दीक्षा लेने की मूढ़ता करता है तो 'अन्धा-अन्धा ठेलियाँ। दोनों कूप पड़न्त।' जैसी बात बनेगी।

इससे दोनों का ही भला—कल्याण होने वाला नहीं है। स्त्री गुरु से किसी को मोक्ष लाभ होने वाला नहीं है। हाँ यदि कोई मीरा की तरह या सहजोबाई की तरह हो: जिसने अपने अहं को मायावी तन-मन को

अपने इष्ट श्रीकृष्ण में, गुरुदेव में, पूर्णतः समर्पण कर दिया हो, जिनका देह भाव नष्ट होकर जिनकी प्रतिष्ठा आत्म-परमात्मा भाव में हो चुकी हो ऐसी निष्ठावान स्त्री मुक्ति-मोक्ष प्राप्त कर सकती है।

स्त्रियाँ अपने देहभाव को स्त्री प्रकृति को पुरुष तत्व में, गुरु तत्व में लय करके पुरुष तत्व को धारण करके मुक्त हो जाती है। तभी वह गुरु हो सकती है, मोक्ष पा सकती है, दिला सकती है। अन्यथा शास्त्रों के अनुसार स्त्रियों को जब तक पुरुष शरीर नहीं मिलता तब तक मोक्ष उनका नहीं होता। पुरुष तत्व ही गुरु तत्व है। प्रकृति स्त्री तत्व गुरु तत्व नहीं हो सकता।

देह के अहं को अहंकार को 'मैं' को मिटाने के लिए, मन की मोह ममता मिटाने के लिए ही विशेषतः गुरु बनाये जाते हैं। अपना अहं समर्पण करना होगा। गुरु की शरण में जाना होगा। लेकिन अधिकांश देखने में उल्टा ही आता है गुरु करने के बाद भी अहंकार, अकड़ जाती नहीं और भी अधिक बढ़ जाती है। जिस मोह-ममता, मनोनाश के लिए गुरु शिष्य किए जाते हैं वह मिटती ही नहीं और हम गुरु के शिष्य बने ही रहते हैं। जिस प्रकार डॉक्टर-वैद्य की दवा का सेवन रोग-निवृत्ति के लिए ही किया जाता है। रोग-निवृत्ति के लिए ही डॉक्टर-वैद्य की शरण में जाया जाता है। कोई रिश्तेदारी का सम्बन्ध बनाने के लिए नहीं जाया जाता। हमारा मोह-ममता, 'मैं' 'मेरी' अज्ञान, भ्रम, अगर गुरु करके नहीं मिटा, नहीं गया, तो एक निगुरे और सगुरे में फिर अन्तर ही क्या रह गया। तो शिष्यों ने गुरु करने का अर्थ गुरु करने के प्रयोजन को ही नहीं समझा। केवल गुरु से सम्बन्ध जोड़ लिया कि हमारे गुरु हैं, मैं निगुरा नहीं हूँ। गुरु करने पर भी भगवत्ता की (आत्मा) का हमारे गर्भ से जन्म नहीं हुआ तो फिर गुरु रूपी परम पुरुष से जीव (प्रकृति रूप स्त्री) का सम्बन्ध विवाह होने का क्या लाभ हुआ।

मोह के रहते राम के चरणों में दृढ़ अनुराग प्रेम नहीं हो सकता। जो शिष्य अपने मन को अपने 'मैं' को अहंकार को अपने गुरु के चरणों में समर्पित नहीं कर पाते ऐसे ही शिष्यों का अहंकार, मोह, मन मरता नहीं और बढ़ जाता है। जब तक हमारा 'झूठा 'मैं' अहंकार मिटता नहीं तब तक सच्चे 'मैं' 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव नहीं होता। यही भगवान का प्रगट होना है।

जिस प्रकार मिट्टी की देह को जब मिट्टी में दफना, दबा दिया जाता है, उसको फिर हम समाधी कहते हैं। अर्थात् मिट्टी की देह मिट्टी के साथ एक कर देने का नाम समाधि है। जो देह के मरने पर दी जाती है जहाँ आदमी और मिट्टी का भेद समाप्त हो जाता है। जिस मिट्टी की देह को हम अपनी देह कहते थे, यह जो हमारा देह होने का स्वप्न है, भ्रम है वह एक दिन मिट्टी में मिलने वाला है।

ठीक इसी प्रकार हमारे 'अहं', 'मैं' की समाधि ब्रह्म के साथ मिलने पर 'मैं' की समाधि। इस जीव के 'अहं', 'मैं' की समाधि तब होती है जब हमारा 'अहं', 'मैं' ब्रह्म में समाहित होकर एक हो जाता है। इसी को

'जीवात्मा-परमात्मा समता अवस्था समाधी' कहा गया है। हमारे 'मैं' का 'अहं' का ब्रह्म से अलगाव ही व्याधि है—उपाधि है। और उसका ब्रह्म में मिलना ही समाधि है। योगी लोग समाधि में रहते हैं जबकि संसार के लोग व्याधि में—उपाधि में रहते हैं। यह हमारा 'मैं', ('अहं') ही हमें ब्रह्म नहीं होने देता। अनादिकाल से आत्मा-परमात्मा से अलग हुआ है। इस अलगाव को जो मिटा-कर दोनों को एक करदे उसको ही योग कहते हैं उसी को योगी गुरु कहते हैं। कहा भी है :—

आत्मा और परमात्मा अलग रहे बहुकाल।
योग समाधी में मिले, सद्गुरु मिले दलाल ॥

तो जो शरीर के मोह से, संसार के परि-वार, पदार्थ के, धन-पद के मोह से जगाये वही सद्गुरु है क्योंकि मोह की नींद बहुत गहरी और मीठी है। गहरी नींद, बेहोशी है, कितना ही पुकारो, चीखो, और चिल्लाओ भी यहाँ तक पकड़कर हिलाओ, झकझोरो, तो भी जाग नहीं पाते क्योंकि सपने सच्चे हैं, काफी मजबूत हैं, थोड़े जगते हैं, लेकिन नींद की बेहोशी हमें फिर-फिर सुला देती है फिर लौटकर जगे-जगाये सो जाते हैं। तो गुरु का अर्थ है कि तुम्हारी गहरी से गहरी नींद को तोड़ दे।

जब तक शिष्य जग न जाये, उठ न जाये, उठकर खड़ा न हो जाये, चारपाई छोड़ न दे तब तक तुम्हें जगाता ही रहे तुम्हें फिर लौट कर सोने न दे। तो गुरु जगाने वाला नींद के समय दुश्मन लगता है क्योंकि कितनी सुखद, स्वप्न वाली नींद से जगा दिया। लेकिन जगने पर गुरु परम हितैषी लगेगा कहोगे बड़ी कृपा की गुरुदेव ने मोह नींद से जगा दिया। जिस गुरु के पास मोह निद्रा गहरी होती है जो तुम्हें झकझोरता न हो, जो तुम्हारे अहं को मारे न, जो तुम्हारे अहं-कार को बढ़ावा दे, मनमानी करने दे, ऐसे गुरु से दूर भागना सद्गुरु तुम्हें जगायेगा तुम्हें याद दिलायेगा, ताकि जगाकर तुम जान सको कि तुम कौन हो। मन्दिर, आश्रम, गुरु हमें जगाने के लिए निमित्त किये गये हैं लेकिन आश्चर्य है कि वहाँ भी हम सो जाते हैं, मोह, माया, घर, परिवार बना लेते हैं।

मोह का प्रबल बन्धन—एक ही बन्धन है संसार में मोह का इसी से सारे संसार के समस्त जीव परस्पर बंधे हुए हैं एक-दूसरे से। इस मोह के बन्धन को गुरुदेव के अलावा कोई भी खो देने में समर्थ नहीं है। गुरुदेव जीवों को इधर सांसारिक मोह के बन्धन से मिलते हैं, तथा परमात्मा के प्रेम-बंधन में उसे बाँधते हैं, क्योंकि मोह गये बिन राम पद होइ न दृढ़ अनुराग।' सबकी ममता ताग बटोरी। मम पद प्रीत मोक्ष है डोरी। 'मैं' और 'मेरा' यही मोह माया का प्रबल बन्धन है।

---

☐ परमात्मा प्रभु के अतिरिक्त किसी का चिन्तन न करने से उसी का योगानुभव होता है।
—साधुवेश में एक पथिक

☐ श्री समर्थ रामदासजी

# -: शारदा-स्तवन :-

अब मैं वेदमाता, ब्रह्मसुता, शब्दमूला, वाग्देवता, महामाया श्री शारदा की वन्दना करता हूँ। जो मुख से शब्द निकलवाती है, अपारवाणी कहलाती है और जो निःशब्द के मन का भाव भी विदित कराती है; जो योगियों की समाधि, दृढ़ निश्चयी लोगों की दृढ़ता है और जो विद्या होने के कारण अविद्या को नष्ट करती है, जो महापुरुषों की तुरीया अथवा चतुर्थावस्था में परम निकट रहने वाली माया है और जिसके लिए साधु लोग बड़े-बड़े कार्यों में प्रवृत्त होते हैं; जो महान् लोगों की शान्ति, ईश्वर की निज शक्ति, ज्ञानियों की विरक्ति और निराशा की भी शोभा है; जो अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना करती और विनोद में ही उन्हें नष्ट करती है और जो स्वयं आदि-पुरुष की आड़ में खड़ी रहती है; जो केवल प्रत्यक्ष देखने से ही दिखाई पड़ती है और विचार करने से अदृश्य हो जाती है और ब्रह्मा आदि भी जिसका पार नहीं पाते; जो जगत के सभी नाटकों की भीतरी कला है, जो निर्मल स्फूर्ति है और जिससे आत्मानन्द तथा ज्ञान-शक्ति प्राप्त होती है; जो लावण्य-स्वरूप की शोभा है, जो पर-ब्रह्म सूर्य की शोभा है और जो शब्दों से बना-बनाया संसार नष्ट कर सकती है; जो मोक्ष देने वाली लक्ष्मी और महामंगला है; जो सत्रहवीं जीवन-कला, मनुष्य को अमर करने वाली, ब्रह्मरंध्र से निकलने वाली अमृत की धार, सत्वशील सुशीलता और लावण्य की है; जो अव्यक्त पुरुष की, परब्रह्म की व्यक्तता है, जो विस्तार से बढ़ी हुई इच्छा शक्ति है, जो कलिकाल का नियन्त्रण करने वाली और सद्गुरु की कृपा है; जो परमार्थ-मार्ग का विचार, सार और असार का निर्णय करने वाली और शब्द-बल से ही भव-सिन्धु के पार पहुँचाने वाली है।

इस प्रकार एक माता शारदा ने अनेक वेष धारण किये हैं। वह स्वयं-सिद्ध होकर अन्तःकरण में चार प्रकार से (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) प्रकट होती है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा इन तीन वाचाओं के द्वारा मन में जो बात आती है, वह चौथी वाचा वैखरी के द्वारा प्रकट कराती है। इसीलिए कहते हैं कि जो कुछ कर्तृत्व होता है, वह शारदा के कारण ही होता है। जो ब्रह्मा आदि की जननी, हरि और हर को उत्पन्न करने वाली है और जिसके विस्तार से सारी सृष्टि और तीनों लोक हुए हैं, जो परमार्थ का मूल और केवल सद्विद्या ही है और जो

शान्त, निर्मल, निश्चल तथा स्वरूप स्थिति है; जो योगियों के ध्यान, साधकों के चिन्तन और सिद्धों के अन्तःकरण से समाधि रूप से स्थित है; जो निर्गुण की पहचान, अनुभव का लक्षण और सभी घटों में पूर्ण रूप से व्याप्त है; शास्त्र, पुराण, वेद और श्रुति जिसका अखण्ड स्तवन करते हैं और प्राणि-मात्र अनेक प्रकार से जिसकी स्तुति करते हैं; जो वेदों तथा शास्त्रों की महिमा और निरुपमों की उपमा है और जिसके कारण परमात्मा को लोग परमात्मा कहते हैं; जो अनेक प्रकार की विद्याओं, कलाओं, सिद्धियों और अनेक प्रकार के निश्चयों की बुद्धि और सूक्ष्म वस्तुओं का शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है; जो हरिभक्तों की स्वयं भक्ति, अन्तनिष्ठों की अन्तर स्थिति, जीवन्मुक्तों की मुक्ति और सायुज्यता है; जो अनन्त माया और वैष्णवी है, जिसकी लीला का कुछ भी पता नहीं चलता और बड़े-बड़े लोगों को ज्ञान के अभिमान में फँसाती है।

आँखों से जो कुछ दिखाई पड़ता है, शब्दों के द्वारा जो कुछ जाना जाता है और मन में जिन सब बातों का अनुभव होता है, वह सब जिसके रूप हैं। अनुभवी लोग इस बात का अभिप्राय जानते हैं कि स्तवन, भजन और भक्ति-भाव सभी में बिना माया के कहीं ठिकाना नहीं लगता। इसीलिए जो बड़ों से भी बड़ी और ईश्वर की भी ईश्वर है, उन्हें स्वयं उन्हीं के अंश में (अर्थात् माया के ही रूप में) मेरा नमस्कार है।

## धर्म और राजनीति

जब से राजसत्ता धर्म के साथ जुड़ गयी, तब से धर्म की अत्यन्त हानि हुई है। राजसत्ता के जरिए सद्धर्म या सद्विचार फैल सकता है, यह कल्पना ही मन से निकाल दीजिए। बल्कि अगर सच्चे अर्थ में राजसत्ता धर्म के साथ जुड़ जाये, तो धर्म राजसत्ता को ही खतम कर देगा। दोनों एक साथ नहीं रह सकेंगे। अन्धकार और सूर्यनारायण एक साथ नहीं रह सकते। धर्म अगर सचमुच में राजसत्ता के साथ आ गया तो वह राजसत्ता को तोड़ देगा। दूसरों पर सत्ता चलाना धर्म विचार नहीं। सबकी सेवा करना, प्रेम से समझाना ही धर्म विचार है। सत्ता के जरिये समाज-रचना में कोई क्रान्तिकारक बदल नहीं हो सकता। लोगों में जाकर उनके मन की शुद्धि का कार्यक्रम किये बिना जनसमाज आगे नहीं बढ़ता। हिन्दुस्तान में जहाँ-जहाँ समाज आगे बढ़ा वहाँ-वहाँ सत्पुरुषों के जरिये आगे बढ़ा। चोरी नहीं करनी चाहिए, ऐसी जो हमारी विवेक बुद्धि बनी है, क्या वह किसी राजा ने बना दी है?

☐ श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

# प्रार्थना, उपासना तथा पूजा

परम प्रभु की सृष्टि में मनुष्य एक छोटे भुनगे के समान है। वह अपने शरीर के माध्यम से इस भौतिक संसार में आता है। जन्म के समय इसकी अवस्था बड़ी शोचनीय होती है। जैसे अन्य पशु अपनी चार टाँगों पर चलते हैं, यह मनुष्य अपनी दोनों टाँगों पर चल भी नहीं सकता। वह पानी के स्तर पर तैर नहीं सकता जैसे मछलियाँ तैरती हैं और पक्षियों के समान आकाश में उड़ भी नहीं सकता। वह दीमक, मधु-मक्खियों, पक्षियों के समान अपने घर या घोंसलों का भी निर्माण नहीं कर सकता। वह कोयल के समान मीठे स्वर में कू-कू नहीं कर सकता। जैसे दूसरे कीड़े एक स्थान से दूसरे स्थान को वस्तुयें ले जाते हैं वैसा यह नहीं कर सकता। मनुष्यने प्राकृतिक साधनों का भी अपने लिये निर्माण नहीं किया। इन सब बातों में अन्य प्राणी अधिक भाग्यवान् प्रतीत होते हैं। जब वे जन्म लेते हैं तो उनकी इतनी शोचनीय अवस्था नहीं होती। अपने जन्म से कुछ दिनों के अनन्तर ही वे स्वतंत्र रूप से अपने कार्य करने लग जाते हैं। किन्तु मनुष्य की एक विशेषता है। मनुष्य में बुद्धि है और चयन करने की योग्यता। इसीलिये वह सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी माना जाता है। यद्यपि जन्म के समय वह निर्बल और असहाय होता है फिर भी उसने अपने को अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और प्रबल शक्ति वाला बना लिया है।

हमको अपना भूत याद नहीं है और भविष्य तो अनिश्चित ही है। हम एक अनन्त मार्ग पर चलते जा रहे हैं। कहाँ से ? कहाँ को ? परमप्रभु को छोड़कर अन्य कौन है जो इन प्रश्नों का समाधान कर सके। जब हम छोटे से बच्चे मात्र ही थे उसने माता के स्तनों में अमृतमय दुग्ध प्रदान किया। जब हम जन्मे ही थे, उसने हमारे श्वास-प्रश्वास का प्रबन्ध किया और ऑक्सिजन और नाइट्रोजन को निश्चित मात्रा में मिलाकर ऐसी वायु प्रदान की जो हमारे जीवन के लिए उपयुक्त थी। जब हमें धूप की आवश्यकता हुई तो उसने लाखों मील दूरी पर स्थित सूर्य के द्वारा धूप और प्रकाश प्रदान किया। हमारे जन्म लेने के पूर्व इस मानवी संसार में उसने अन्न के दाने और तरकारियाँ तथा फल उत्पन्न किये जिसको हम खाकर या हमारे पशु जिनको खाकर जीवित रह सकें। और अन्त में उसने वातावरण की अनुकूलता के अनुसार हमें ऐसा उपयोगी शरीर प्रदान किया। क्या हम उस परम प्रभु के प्रति जो हमारा पिता है, माता है, मित्र है, शिक्षक है, प्रदर्शक है, ये तीन शब्द कह सकें—"प्रभु, तेरा आभार", "हम आभारी हैं" या एक

शब्द—"धन्यवाद" ? वह हमारे अनन्त मार्ग में सदा सहायक रहा है, वह हमको कभी विस्मृत नहीं करता; क्या हम उसके प्रति कृतज्ञ नहीं है ? क्या हम उसके प्रति कृतज्ञता नहीं प्रकट कर सकते ?

इसलिए नहीं कि उसको हमारे धन्यवाद की अपेक्षा है; इसलिए नहीं कि वह यह लालसा करता है कि सब प्राणी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते रहें। इससे उसकी महत्ता में कोई वृद्धि न होगी,—इससे हमारी नम्रता का विकास होगा जिसको अपने जीवन में उत्पन्न करने की कितनी आवश्यकता है। नम्रता एक ऐसा विशिष्ट गुण है जो हममें होना चाहिये। वास्तव में हमें इस पर कुछ व्यय नहीं करना पड़ता, जैसे आप किसी से मिलते हैं तो प्यार भरे शब्दों में कुछ न कुछ संबोधन करते ही हैं।

हम प्रभु की उपासना क्यों करना चाहते हैं ? इसका उत्तर सरल और स्पष्ट है। क्योंकि वह हम सबको प्यार करता है, वह जीवन भर हमारे साथ रहा है, और सदा हमारे साथ रहेगा। क्या हमको उससे प्रेम नहीं करना चाहिये ? हम उसकी समता में एक बच्चे के समान हैं और वह हमारा पिता है। वह हमारा निरंतर सखा रहा है। क्या हम उसको भूल जायें ? कम से कम वह तो हमको नहीं भूलता। हम उससे प्रेम के सूत्रों या धागों द्वारा बंधे हैं।

हमारा जीवन निराश और अंधकारमय है। जब हम अंधकार में टटोलते फिरते हैं, वह हममें आशा का संचार करता है। वह हमारे अन्दर बैठा हुआ है, वह हमारे हृदय की गहराइयों के मध्य स्थित है और जब हम भ्रम में पड़ जाते हैं तो वह हमसे बोलता है। उसकी आवाज अन्तःकरण की आवाज है। क्या हम इस आवाज को न सुनें, जब कि वह हमारा पथ प्रदर्शन करने को उत्सुक है ? पूजा से तात्पर्य है कि हम उसकी आवाज को सुनें और उसकी आवाज के प्रति अपने को समर्पित कर दें। ईश्वर हमसे जब बात करता है उसमें कृतज्ञता की भावना नहीं होती। जब कि सूर्य अस्त हो जाता है, और आकाश में चन्द्र भी नहीं होता; जब दुःख और कष्ट के बादल हमें चारों ओर से घेर लेते हैं; जब मार्ग निर्देशन के लिए बिजली की चमक भी नहीं होती और सब दिये बुझ जाते हैं; तो इस निराश और दुःख के अंधकार में वह अपनी हथेली पर स्पष्ट वाणी में सहायता का अपना हाथ बढ़ाता है।

जब हम अन्तःकरण की आवाज से विमुख हो जाते हैं, अभिमान हम में इतना है कि सुनते हुये भी उधर अपने कान नहीं करते, फिर भी वह हमसे बात करता है; बार-बार कहता है, शर्त यह है कि हम सुनने को तैयार हों। यह सत्य है कि परमात्मा की यह आवाज धीरे-धीरे मन्द होती जाती है, पर वस्तुतः यह आवाज बन्द नहीं हुई है, वे हम हैं जो बहरे बन गये हैं और उसको सुनना नहीं चाहते।

जब आप आत्म-समर्पण कर देते हैं, जब आप उसकी उपासना और प्रार्थना करते हैं, तो आपकी सुनने की शक्ति जो मन्द हो गई थी वह जागृत हो जाती है। अब भी अवसर है कि आप उस प्रकाश किरण को देखने की चेष्टा करें जो कि निरन्तर आप का पथ-प्रदर्शन कर रही है। इसीलिये हमें उसकी उपासना करनी चाहिये, इसलिये नहीं कि ईश्वर अपने भक्तों से कृतज्ञता के दो शब्द सुनने को इच्छुक है।

प्रार्थना से यह तात्पर्य नहीं कि कुछ महत्त मंत्र या श्लोकों को बार-बार दुहरायें। प्रार्थनायें कहने और सुनने की वस्तु नहीं। यह भी नहीं कि आप ईश्वर की सेवा में प्रशंसा के कुछ शब्द दुहरा रहे हैं। प्रार्थनायें हमारे हृदय के अन्दर से प्रकट होती है। इसके लिए कुछ अभ्यास की आवश्यकता होगी। केवल उसी व्यक्ति को प्रार्थना करने का अधिकार है जिसने सत्य के सामने आत्म-समर्पण कर दिया और जिसमें अहिंसा की भावना है। कम से कम जब आप ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं आपको आत्म-विश्वास होना चाहिये; उन सबके प्रति अहिंसा भाव होना चाहिये जिनको आप जानते हैं। ईश्वर का आपके हृदय में वास है; वह यह देख रहा है कि आपने प्रार्थना का अधिकार प्राप्त कर लिया है या नहीं। वह चाहता है कि आप सच्चे हृदय से प्रार्थना करें। वही पवित्रता है जो आपको प्रार्थना के अनन्तर सहायक होगी, शब्द जो आपने रटे-रटाये दुहरा लिये हैं वे आपके सहायक न होंगे।

जब आप प्रार्थना करने को उद्यत हों तो आप में आन्तरिक और बाह्य पवित्रता का होना आवश्यक होगा। आप साबुन और जल से अपने शरीर को शुद्ध कर सकते हैं। परन्तु बाहरी आँख की सफाई आवश्यक नहीं है, यह तो चक्षु-इन्द्रिय शुद्ध होनी चाहिये, बाहरी कानों की सफाई पर्याप्त न होगी, यह श्रोत इन्द्रिय शुद्ध होनी आवश्यक है। इसी प्रकार से जिह्वा या होठों के मैल को साफ करना पर्याप्त न होगा, जिह्वा और वाणी की पवित्रता चाहिये। यदि भक्त चाहता है कि उसकी प्रार्थना सुनी जाय तो उसकी आन्तरिक और बाह्य इन्द्रिय के कार्य पवित्र-रूप हों।

आपने जब कुछ शब्दों को दोहरा लिया, इतने मात्र से प्रार्थना पूर्ण न होगी। प्रार्थना पूर्ण होने के लिए एक विशेष कार्यक्रम की पुष्टि करनी होगी। प्रार्थना से आपके कर्तव्यों की इति नहीं हो जाती, इससे तो उसका आरम्भ होता है। प्रार्थना का फल ऊपर से नहीं आया करता। प्रार्थना तो बीज के समान है जो भूमि में बोई जाती है, और अन्दर ही अन्दर पनपेगी। जब आपने प्रार्थना की, तो आपने बीज बो दिया है। यह समयान्तर से अंकुरित होगा परन्तु उसके निरन्तर पालन और सेवा की आवश्यकता होगी। इसीलिये हमने कहा है कि प्रार्थना का एक निश्चित कार्यक्रम है। प्रार्थना जो प्रातः कही गई है उसमें आपने दिन भर के लिए एक व्रत लिया था। सायंकाल की प्रार्थना में आप इस बात का लेखा लेते हैं कि जो व्रत आपने प्रातः लिया था उसका कहाँ तक पालन किया। प्रार्थना तो चेतना उत्पन्न करने के लिये है, निष्क्रिय बनाने को नहीं। सदा स्मरण रखिये कि परमात्मा आपके द्वारा ही प्रार्थना को पूर्ण करेगा, किसी दूसरे के द्वारा यह सिद्धि न होगी। यह तो वही निश्चय करेगा कि किस प्रकार प्रार्थना को सिद्धि हो। वह तुम्हारी समस्याओं के समाधान के योग्य तुम्हें बनाता है। यह उचित है कि आपके द्वारा ही आपकी समस्याओं का समाधान हो। प्रार्थनायें आपको वातावरण के अनुकूल कार्य करने की योग्यता देंगी।

प्रार्थनाओं का आधार ईर्ष्या, द्वेष तथा दूसरों के प्रति शत्रुता न होनी चाहिये। प्रार्थनायें इसलिये नहीं की जानी चाहियें कि आप दूसरों को हानि पहुँचा कर पूर्ण सफलता प्राप्त करें। यदि आप किसी बलवान शत्रु को पराजित करने का समुदाय के साथ

प्रयत्न कर रहे हों, तब भी प्रार्थना में आपको यह माँगना चाहिये कि न्याय युक्त पक्ष की विजय हो और अपने को दयालुता और न्याय के प्रति समर्पित करना होगा अन्त में तो सत्य की ही विजय होती है।

वैयक्तिक प्रार्थना सामुदायिक प्रार्थना से कहीं उत्तम होती है। सामुदायिक प्रार्थना तो लोकाचार की प्रार्थना मात्र है; शिक्षा के विचार से यह उत्तम होगी। कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब एक समुदाय पर एक ही शत्रु से आपत्ति आती है। ऐसे समय में सामुदायिक प्रार्थना पवित्र हृदय से निकलती है और जब हृदय से प्रार्थना निकलती है तो इससे सामुदायिक प्रयत्न होगा, और सब मिलकर पुरुषार्थ करने का उद्बोधन प्राप्त करेंगे।

हमारी दैनिक प्रार्थनायें सामान्य होनी चाहिये और विशेष वैयक्तिक प्रार्थनाओं से भिन्न होनी चाहिये जो एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई है। उनका आरम्भ ईश्वर की स्तुति से होना चाहिये। आचार के लिए ईश्वर हमारा आदर्श है। उसमें वे सब समाधान केन्द्रित हैं जो हमारी उन्नति के लिये आवश्यक है। वह कल्याण का मूर्तरूप है; वह सत्य का प्रतीक है; वह प्रेम का स्वरूप है; वह बुद्धि का मूर्त-रूप है; उसमें सौन्दर्य की प्रतीति है; वह गुण का साकार है, दूसरे शब्दों में वह सर्वव्यापक है, सर्व ज्ञान-स्वरूप है; सर्वशक्तिमान है; वह दयालु है, न्यायकारी है। जब हम इन शब्दों के द्वारा उसकी स्तुति करते हैं तो हमारा यह उद्देश्य होता है कि गुणों का हममें प्रवेश हो जाय। यदि हम प्रभु को दयालु, करुणाशील कहते हैं और इस पर भी दूसरों के साथ क्रूर व्यवहार करते हैं तो यह प्रार्थना का ढोंग मात्र है। उस प्रभु को हम सत्य का स्वरूप स्वीकार करते हैं, फिर भी हम असत्य का पक्ष लेते हैं तो हमने प्रार्थना के उद्देश्य को भली प्रकार समझा ही नहीं है।

हम मनुष्यों में संसार के अन्य प्राणियों की अपेक्षा विवेचन शक्ति की विशेषता पाते हैं, इसलिये प्रार्थना में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि हममें भी विवेचन शक्ति की वृद्धि हो। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य सबसे निर्बल है, परन्तु ठीक प्रकार की बुद्धि प्राप्त हो जाने से वह सभी समस्याओं और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है। मनुष्य में विवेचन शक्ति पाई जाती है इसीलिये उसके व्यवहार के लिये आचार शास्त्र बना है। परन्तु पवित्र बुद्धि से ही शुद्ध विवेक शक्ति बनती है। पवित्र बुद्धि का स्वस्थ मस्तिष्क में वास होता है। पवित्र बुद्धि के द्वारा ही हम शुभ और अशुभ का विवेचन करते हैं। बुद्धि को सद्-असद्-विवेकवती कहा जाता है।

आइये! हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि हमको असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलिये।

# देह और देही ?

**अत्यन्त मलिनो देहो, देही चात्यन्त निर्मलः ।**
**असंगोऽहमिति ज्ञात्वा, शौचमेतत्प्रचक्षते ॥**

अर्थ :—देह अत्यन्त मलिन है और देही—आत्मा अत्यन्त शुद्ध है, इसलिए मैं असंग हूँ ऐसा जानना इसी को शौच कहते है।

शेष परब्रह्म को दिखलाकर जिसका त्याग हुआ है ऐसे ज्ञानाज्ञान-अविद्या और उसका कार्य ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड शरीर है और शरीर ब्रह्माण्ड है। शरीर छोटा और व्यक्तिरूप है, ब्रह्माण्ड बड़ा और समष्टि रूप है, एक शरीर को समझाने से ब्रह्माण्ड समझा जाता है इससे शरीर का वर्णन करते हैं। यह शरीर अत्यन्त मलिन है क्योंकि मलिन स्थान से उसकी उत्पत्ति हुई है, मलिन पदार्थों से भरा हुआ है, वर्तमानकाल में भी मलिन ही रहता है और मृत्यु में मलिन-अपवित्र होता है, उसको छूने वाले मलिन होने से ही छूकर स्नान करते हैं। स्थूल शरीर, अस्थि, मांस, चर्म, मेद, रक्त, मज्जा, मूत्र, मल और लालादिक से भरा हुआ है, क्षण-क्षण में विकार को प्राप्त होता रहता है, अनेक व्याधियों का स्थान है, उत्पत्ति, स्थिति और नाश वाला है।

सूक्ष्म शरीर काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि दुःखकर दुष्ट वृत्तियों का होने से अशुद्ध है और कारण शरीर अज्ञान स्वरूप जड़ होने से अपवित्र है इसी प्रकार दोनों शरीर सहित स्थूल शरीर अत्यन्त अपवित्र है।

शरीर का प्राप्त होना ही अशुद्धि का प्राप्त होना है, अविद्या अशुद्धि होने से अविद्या और अविद्या का कार्य रूप शरीर अपवित्र है, ऐसे शरीर की शुद्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती। जो उसे शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं वे मल-मूत्र को धोकर शुद्ध करने वाले के सामने हैं। शरीर अशुद्ध है और आत्मा अत्यन्त निर्मल शुद्ध है ऐसा देखने वाला ठीक-ठीक देखता है। आत्मा शुद्ध साक्षी है, शरीर में रहकर भी असंग होने से शरीर की मलिनता आदि दोषों से लेपायमान नहीं होता। जैसे मृत्तिका का घट अशुद्ध पदार्थ भरने से अशुद्ध होता है, परन्तु उसमें रहा हुआ आकाश अशुद्ध नहीं होता तैसे देह की मलिनता से देह में रहा हुआ आत्मा मलिन नहीं होता, और जैसे घट को धोकर साफ करते हैं तब

उस धोने की क्रिया का स्पर्श आकाश को नहीं होता वैसे ही शरीर की सफाई का स्पर्श आत्मा को नहीं होता।

देह की अशुद्धि का प्रायश्चित्त देही—आत्मा को नहीं है। आकाश सब स्थानों में सब पदार्थों में रहा हुआ है तो भी असंग होने से पदार्थों की मलिनता से मलिन नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा में स्वर्ग-नरक बंध मोक्ष और सुख दुःखादि द्वन्द्व नहीं होते। आकाश शुद्ध और असंग है तो भी अविद्या का कार्य होने से जड़ और अशुद्ध ही है और आत्मा तो सत्स्वरूप होने से स्वाभाविक ही शुद्ध स्वरूप है।

आत्मा की शुद्धता का आरोप अविद्या से देह में किया जाता है और अविद्या से शरीर की अशुद्धता का आरोप देही आत्मा में किया जाता है ऐसा अन्योन्याध्यास ही देही-जीव के दुःखी होने का कारण है, वास्तव में तो देही शुद्ध है और देह अशुद्ध ही है। जैसे देह अशुद्ध होने से शुद्ध नहीं हो सकता ऐसे देही-शुद्ध स्वरूप आत्मा किसी प्रकार किसी से अशुद्ध नहीं हो सकता।

जब देह से अहं भाव रूप बुद्धि के पाप की निवृत्ति होती है तब ही अखण्ड निर्मल असंग सब प्रकार से पूर्ण ब्रह्म का स्फुरण होता है, मैं ब्रह्म हूँ, सत हूँ, असंग हूँ, आनन्द स्वरूप हूँ, अबाधित चैतन्य स्वरूप हूँ" ऐसा दृढ़ अपरोक्ष आत्म-ज्ञान होना ही पवित्रता है ऐसे ज्ञान से ही शरीरादिक अहं भाव और मम भाव रूप मल का त्याग—शौच हो जाता है। देह में "मैं हूँ" ऐसा भाव अपवित्रता है उसका त्याग करके देही जो आत्मा है उसमें "मैं हूँ" ऐसा दृढ़ भाव होना पवित्रता है।

---

☐ संस्कार तथा त्याग मनुष्य को घुमाते रहते हैं लेकिन निश्चित लक्ष्य की ओर नहीं ले जाते। केवल स्वयं को समझने की शक्ति बुद्धि ही लक्ष्य तक पहुँचा सकती है। यहाँ तक त्याग का प्रभाव जटिलता का सर्वमान्य विश्वास का सम्बन्ध है, यद्यपि धृष्टता पूर्वक खण्डन नहीं किया जा सकता। उपनिषद् में श्लिष्टतया अलग वर्णित है। सत्यता और अविनाशी आनन्द का मार्ग।

कथा उपनिषद् में मूर्खों की अपने को विद्वान बताने की कल्पना शक्ति यहाँ कुछ हेर-फेर के साथ वर्णित है। महत्वपूर्ण शब्द अविद्या जो कथा, ईशावास्य उपनिषद् या गीता में भी आया है उस पर भी प्रकाश डाला गया।

× × ×

☐ ऐसा अनुभव करते हुए, अन्वेषक को अनित्य या क्षणिक वस्तुओं की अपनी इच्छाओं और आसक्ति को पूर्ण रूप से छोड़ देना चाहिए। और योग्य एवं मर्यादा-युक्त शिक्षक से उच्च शिक्षा से उपार्जित करनी चाहिए।

# सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

पढ़ो, समझो
और करो

सम्पूर्णज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से तथा राग-द्वेष के पूर्णक्षय से जीव एकान्त सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

× × ×

गुरु तथा वृद्ध-जनों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना तथा धैर्य रखना—ये (दुःखों से मुक्ति के) उपाय हैं।

× × ×

समाधि का अभिलाषी तपस्वी श्रमण परिमित तथा एषणीय आहार की ही इच्छा करे, तत्त्वार्थ में निपुण (प्राज्ञ) साथी को ही चाहे तथा विवेकयुक्त अर्थात् विविक्त (एकान्त) स्थान में ही निवास करे।

× × ×

जो मनुष्य हित-मित तथा अल्प आहार करते हैं, उन्हें कभी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वे तो स्वयं अपने चिकित्सक होते हैं। अपनी अन्तर्शुद्धि में लगे रहते हैं।

× × ×

रसों का अत्यधिक सेवन नहीं करना चाहिए। रस प्रायः उन्मादवर्धक होते हैं—पुष्टिवर्धक होते हैं। मदाविष्ट या विषयासक्त मनुष्य को काम वैसे ही सताता या उत्पीड़ित करता है जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष को पक्षी।

× × ×

जो विविक्त (स्त्री आदि से रहित) शय्यासन से नियन्त्रित युक्त) है, अल्प-आहारी है और दमितेन्द्रिय है, उसके चित्त को राग-द्वेषरूपी विकार पराजित नहीं कर सकते, जैसे औषधि से पराजित या विनष्ट व्याधि पुनः नहीं सताती।

× × ×

जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ (रोगादि) नहीं बढ़ती और इन्द्रियाँ अशक्त (अक्षम) नहीं हो जातीं, तब तक (यथाशक्ति) धर्माचरण कर लेना चाहिए। (क्योंकि बाद में अशक्त एवं असमर्थ देहेन्द्रियों से धर्माचरण नहीं हो सकेगा।)

× × ×

जन्म-जरा-मरण से मुक्त जिनेन्द्रदेव ने इस लोक में दो ही मार्ग बतलाये हैं— एक है उत्तम श्रमणों का और दूसरा है उत्तम श्रावकों का।

× × ×

श्रावक-धर्म में दान और पूजा मुख्य हैं जिनके बिना श्रावक नहीं होता तथा श्रमण-धर्म में ध्यान व अध्ययन मुख्य है, जिनके बिना श्रमण नहीं होता।

× × ×

यद्यपि शुद्धाचारी साधुजन सभी गृहस्थों से संयम में श्रेष्ठ होते हैं, तथापि कुछ (शिथिलाचारी) भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते हैं।

× × ×

जो व्यक्ति मुण्डित (प्रव्रजित) होकर अनगारधर्म स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित श्रावकधर्म को अंगीकार करता है।

× × ×

श्रावकधर्म या श्रावकाचार में पाँच व्रत तथा सात शिक्षाव्रत होते हैं। जो व्यक्ति इन सबका या इनमें से कुछ का आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

× × ×

जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति प्रतिदिन यतिजनों से परम सामाचारी (आचार-विषयक उपदेश) श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

× × ×

जिसकी मति सम्यग्दर्शन से विशुद्ध हो गयी है वह व्यक्ति पाँच उदुम्बर फल (उमर, कठूमर, गूलर, पीपल तथा बड़) के साथ-साथ सात व्यसनों का त्याग करने से दार्शनिक श्रावक कहा जाता है।

× × ×

परस्त्री का सहवास, द्यूत-क्रीडा, मद्य, शिकार, वचन-परुषता, कठोर दण्ड तथा अर्थ-दूषण (चोरी आदि) ये सात व्यसन हैं।

× × ×

मांसाहार से दर्प बढ़ता है। दर्प से मनुष्य में मद्यपान की अभिलाषा जागती है और वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार (एक मांसाहार से ही) मनुष्य उक्त वर्णित सर्व दोषों को प्राप्त हो जाता है।

× × ×

लौकिक शास्त्र में भी यह उल्लेख मिलता है कि मांस खाने से आकाश में विहार करने वाला विप्र भूमि पर गिर पड़ा, अर्थात् पतित हो गया। अतएव मांस का सेवन (कदापि) नहीं करना चाहिए। —(समणसुत्त से)

# प्राण-निरोध के उपाय

प्रो० डा० श्री भीखनलाल आत्रेय

प्राण क्या है ? प्राणों की प्रगति किस प्रकार होती है ? और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयों की चर्चा योगवासिष्ठ में खूब विस्तार से की गयी है। यहाँ पर संक्षेप में केवल उन उपायों की गणनामात्र की जा रही है जिनसे कि योगवासिष्ठानुसार प्राण का स्पन्दन रुक जाता है। वे इस प्रकार हैं—वैराग्य, परम कारण का ध्यान, व्यसनक्षय, निरोध की विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान, शास्त्र और सज्जनों का संग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियों से मनको हटाना, इच्छित वस्तु का ध्यान, एक तत्व का अभ्यास, दुःख हरने वाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामों का गहरा अभ्यास, एकान्त में ध्यान, ॐकार का उच्चारण करते-करते शब्द-तत्व की भावना, संविद् को सुषुप्ति में लाना, रेचक के अभ्यास से प्राण को आकाश-पर्यन्त विस्तृत करना, पूरक के अभ्यास से मेरु के समान स्थिर हो जाना, कुम्भक के अभ्यास से प्राण का स्तम्भित करना, तालमूल पर स्थित घण्टी को जिह्वा से यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्र में प्राण ले जाना, संविद को शून्य आकाश में, जहाँ पर कोई कल्पना नहीं है, ले जाकर शान्त करना, नासाग्र से द्वादशांगुल पर बाहर शुद्ध आकाश में संविद को लीन करना, भौंहों के मध्य में दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतन में स्थित होना, ऊर्ध्वरन्ध्र में प्राण ले जाकर तालु से बारह अँगुल ऊपर प्राण को शान्त करना, जिससे ज्ञान का उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ भाव से निश्चित होना और किसी भी विकल्प से विचलित न होना, चिरकाल तक जिस पदार्थ की वासना रही हो, उसकी शून्य भावना से मन को वासना रहित करके क्षीण करना और शुद्ध संवित् में ध्यान लगाना। इनके सिवा प्राणनिरोध की और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो नाना देशों में प्रचलित हैं और अनेक गुरुओं द्वारा बतायी गयी हैं। इस प्रकार प्राण निरोध के अभ्यास से प्राण का लय होने पर मन की क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है।

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सबाई (एत्मादपुर) आगरा।

## तुम ही सोचो !

जो गुरु भवसागर में डूबते हुए को उसमें से निकालकर अपने जैसा कर लेता है, सब संशय मिटाने के लिए शिष्य के अन्दर प्रवेश करके शिष्य को चिन्मय बना देता है, उसके हृदय के अन्दर पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश को प्रकाशित करके दिव्य आत्मतेज को जगा देता है, उसको अपने जैसी ही आत्मरति देता है वैसे गुरु के प्रति तुमको कैसे चलना चाहिये यह तुम ही सोचो। —श्रुतिसार

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ,
से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सबाई (आगरा) से प्रकाशित।